श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव प्रणीत

स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः

कन्नड़ टीका

श्री महासेन पंडितदेव

संस्कृत टीका

केशववर्य्य

अज्ञातकर्तृक संस्कृत टीका

(परिशिष्ट क्रमांक चार में)

सम्पादन – अनुवाद एवं विशेष व्याख्या

डॉ० सुदीप जैन

अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली -110016

1995 ई०

विषयानुक्रम

विषय	पद्य क्रमांक	पृष्ठ संख्या
1. प्रकाशकीय		I-II
2. अपनी बात		III-V
3. सम्पादकीय		VI-XIX
4. प्रस्तावना		i-xxxix
5. कन्नड़ टीकाकार का मंगलाचरण		1
6. संस्कृत टीकाकार का मंगलाचरण		3
7. आदि मंगल (मूलग्रन्थकर्त्ताकृत)	1	5
8. आत्म-स्वरूप (अस्तित्व-सिद्धि)	2	9
9. आत्मा का ज्ञान से भिन्नाभिन्नत्व	3	13
10. आत्मा का चेतनाचेतनात्मकत्व	4	16
11. आत्मा का सर्वगतत्व और असर्वगतत्व	5	19
12. आत्मा का एकानेकत्व	6	22
13. आत्मा का वक्तव्य-अवक्तव्य स्वरूप	7	24
14. आत्मा का विधि-निषेधात्मकत्व	8	27
15. आत्मा का अनन्तधर्मात्मकत्व	9	30
16. आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व एवं मुक्त स्वरूप	10	32
17. कर्मक्षय किंवा आत्मस्वरूप-प्राप्ति के उपाय एवं सम्यग्दर्शन का स्वरूप	11	35
18. सम्यग्ज्ञान का स्वरूप	12	38
19. सम्यक्चारित्र का स्वरूप	13-14	41
20. मोक्ष के बाह्य कारण	15	45
21. निजात्म-भावना की पद्धति	16	48
22. तत्त्व-ग्रहण क्यों नहीं हो पाता?	17	51

23. आत्मध्यान की प्रेरणा 18 54
24. हेयोपादेय के प्रति व्यवहार 19 57
25. आत्म-विषयक तृष्णा भी मोक्षप्राप्ति में बाधक 20 60
26. मोक्ष की आकांक्षा भी अहितकर 21 63
27. माध्यस्थ-भाव की स्थिति 22 66
28. आत्मिक पुरुषार्थ की प्रेरणा 23 68
29. स्व-पर भेदविज्ञान 24 70
30. अभेद षट्-कारकरूप आत्म-साधना एवं उसका फल 25 73
31. ग्रन्थ का फल-प्ररूपण 26 76
32. कन्नड़ टीकाकार की प्रशस्ति - 78
33. संस्कृत टीकाकार की प्रशस्ति – 79
34. प्रथम परिशिष्ट (पद्यानुक्रमणिका) – 80
35. द्वितीय परिशिष्ट (शब्दानुक्रमणिका) – 81
36. तृतीय परिशिष्ट (सन्दर्भग्रन्थसूची) – 84
37. चतुर्थ परिशिष्ट (अज्ञातकर्तृक संस्कृतटीका) – 87

प्रकाशकीय

द्रव्यानुयोग संसारी जीवों पर सर्वोत्तम उपकार करता है। उसके दो विभाग हैं – अध्यात्म एवं न्याय। अध्यात्म ऊसरभूमि है, तो न्याय उसकी बाड़ है। स्वनामधन्य आचार्य अकलंकदेव के विषय में अब तक यही माना जा रहा था कि उन्होंने जैनन्याय को ही अपनी लेखनी का विषय बनाया है, परन्तु उनके 'स्वरूपसम्बोधन-पंचविंशति' ग्रन्थ के अध्ययन से वह भ्रम टूटता है। संस्कृतभाषा का यह ग्रन्थ शुद्ध आध्यात्मिक है। यह ग्रन्थ सरल, सुबोध शैली से अध्यात्म-पीयूष बरसाता है। इसके अक्षर-अक्षर से बूँद-बूँद अमृत झरता है। ग्रन्थ का कलेवर लघु है, परन्तु विषय गंभीर एवं उपयोगी है।

पं० महासेनजी की कन्नड़भाषा की टीका से ग्रंथ के विषय में और अधिक निखार आया है। पं० महासेन जी आचार्य अकलंक के कुछ ही समय पश्चात् हुए हैं। वे अपने समय के लब्धप्रतिष्ठ, उद्‌भट विद्वान् रहे हैं। सुबोध शैली के धनी इन दक्षिणी विद्वान् ने ग्रंथ के हार्द को बहुत स्पष्ट किया है।

अनेकों ग्रंथ भण्डारों से ग्रंथ की मूल व टीका प्रतियों को खोजकर ग्रन्थ का सम्पादन, प्रस्तावना-लेखन, हिन्दीरूपान्तरण एवं भावार्थलेखन वर्तमानकालीन तार्किक विद्वान् डॉ० सुदीप जैन ने किया है। इन्होंने प्रतिपाद्यविषय के समर्थन में अन्य ग्रंथों से उद्धरण दिये हैं, जिससे विषय स्पष्ट व सुगम बना है।

यह ग्रन्थ अब तक ताड़पत्र पर ही था। ग्रन्थ के ताड़पत्र मूडबिद्री (दक्षिण कर्नाटक) के शास्त्रभण्डार से प्राप्त हुए हैं।

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, अलवर शाखा आपके करकमलों में यह अध्यात्मपुष्प अर्पित करते हुए प्रसन्नता का अनुभव कर रही है। शाखा का यह आद्य एवं नवीन-प्रयास है। आशा करते हैं कि यह प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में वटवृक्ष का रूप ग्रहण करें।

ग्रन्थ-प्रकाशन का गुरुतर एवं श्रमसाध्य दायित्व शाखा-अध्यक्ष श्री नवीनजी

जैन (इन्जी०) ने वहन किया है, उनके अथक प्रयास का सुमधुर सुफल आपके हाथों में है। नवीन जी हमारे ही अभिन्न अंग हैं, अतः उन्हें क्या धन्यवाद दें।

प्रिंटिंग का बहुसंख्य आर्थिकभार श्री रतनलाल जी जैन (वन्दनाप्रकाशन वाले) तथा ग्रंथ की कीमत कम कराने का बहुभाग श्री शिखरचन्द जी जैन, दिल्लीवालों ने वहन किया है। अन्य विशालहृदयी साधर्मियों ने दान देकर ग्रंथ की कीमत कम करायी, जिससे यह ग्रंथ आपको लागत से काफी कम मूल्य पर उपलब्ध हो रहा है। एतदर्थ श्री रतनलाल जी, श्री शिखर चन्द जी, सहयोगी साधर्मियों को साधुवाद ज्ञापित करता हूँ। प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप से प्रकाशनकार्य को सफल करने में निरंतर प्रेरणा देकर साहस बढ़ाने वाले विद्वानों का उपकार शब्दबाह्य है। प्रिंटिंग का कार्य जे.के. ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-6 वालों ने सुन्दर सुरूचिपूर्ण कराया है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थमाला का यह द्वितीय पुष्प आपके जीवन को सुगन्धित करे एवं इसके माध्यम से आप अपने स्वरूप को सतत सम्बोधते रहें— इसी मंगलभावना के साथ शब्दों को विराम देता हूँ।

पं० अरुण कुमार शास्त्री
सचिव, शास्त्रप्रचार व प्रसार विभाग
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
शाखा – अलवर (राज०)

जैन (इन्जी०) ने वहन किया है, उनके अथक प्रयास का सुमधुर सुफल आपके हाथों में है। नवीन जी हमारे ही अभिन्न अंग हैं, अतः उन्हें क्या धन्यवाद दें।

प्रिंटिंग का बहुसंख्य आर्थिकभार श्री रतनलाल जी जैन (वन्दनाप्रकाशन वाले) तथा ग्रंथ की कीमत कम कराने का बहुभाग श्री शिखरचन्द जी जैन, दिल्लीवालों ने वहन किया है। अन्य विशालहृदयी साधर्मियों ने दान देकर ग्रंथ की कीमत कम करायी, जिससे यह ग्रंथ आपको लागत से काफी कम मूल्य पर उपलब्ध हो रहा है। एतदर्थ श्री रतनलाल जी, श्री शिखर चन्द जी, सहयोगी साधर्मियों को साधुवाद ज्ञापित करता हूँ। प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप से प्रकाशनकार्य को सफल करने में निरंतर प्रेरणा देकर साहस बढ़ाने वाले विद्वानों का उपकार शब्दबाह्य है। प्रिंटिंग का कार्य जे.के. ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली–6 वालों ने सुन्दर सुरुचिपूर्ण कराया है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थमाला का यह द्वितीय पुष्प आपके जीवन को सुगन्धित करे एवं इसके माध्यम से आप अपने स्वरूप को सतत सम्बोधते रहें— इसी मंगलभावना के साथ शब्दों को विराम देता हूँ।

पं० अरुण कुमार शास्त्री
सचिव, शास्त्रप्रचार व प्रसार विभाग
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
शाखा – अलवर (राज०)

अपनी बात

‘अमृताशीति’ के प्रकाशन के बाद कई धर्मानुरागी सज्जनों की ओर से अन्य अप्रकाशित ग्रन्थों को प्रकाशित कराने के लिए अनुरोध एवं प्रस्ताव आये, किन्तु मैं व्यक्ति की अपेक्षा संस्था का चयन करना चाहता था। अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, अलवर (राज०) के मन्त्री नवीन जी का भी पत्र तब आया था, किन्तु बात आगे नहीं बढ़ सकी। निजी कारणों से मैं भी अन्य ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ बहुत सक्रिय नहीं रह सका। किन्तु आध्यात्मिक सत्पुरुष कानजी स्वामी के कहे वचन ‘‘जिन्दगी थोड़ी है, जंजाल बहुत है; अतः क्षयोपशम का सदुपयोग आत्महित एवं आचार्यों के अप्रकाशित ग्रन्थों को प्रकाशित कराने में करना’’ — बारम्बार सावधान करते रहते थे। तभी वर्ष 1994 की प्रभात बेला में भाई नवीन जी घर पर पधारे एवं पुनः योजनाबद्ध प्रस्तावपूर्वक ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य अपनी संस्था के द्वारा आगे बढ़ाने का अनुरोध किया। बात तो बन गयी, किन्तु व्यावहारिक बाधायें अनेक थीं। प्रथमतः प्राथमिकता पर ग्रन्थ का चयन करना था, क्योंकि अप्रकाशित ग्रन्थों की सूची में आठ-दस ग्रन्थ मेरे सामने थे। पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद आचार्य अकलंकदेव विरचित **‘स्वरूपसम्बोधन पञ्चविंशतिः’** नामक प्रस्तुत ग्रन्थ को सर्वप्रथम प्रकाशित कराने का निर्णय लिया।

निर्णय हो जाने पर यह दुविधा उपस्थित हुई कि यह ग्रन्थ तो पूर्व-प्रकाशित है, इसे अप्रकाशित ग्रन्थ के रूप में कैसे ग्रहण किया जाये। तो आचार्य माणिक्यनन्दिकृत ‘परीक्षामुखसूत्र’ के **‘‘दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्’’** इस सूत्र ने पथप्रदर्शन किया। क्योंकि ‘स्वरूपसम्बोधन’ शीर्षक से कई संग्रहग्रन्थों में इसका प्रकाशन तो हो चुका था, किन्तु वह न केवल टीकाओं से रहित था; साथ ही उनमें वैज्ञानिक सम्पादन, शुद्धपाठ-निर्धारण आदि अपेक्षित प्रक्रियाओं का नितान्त अभाव था। इतना ही नहीं, किसी भी प्रकाशित प्रति में न तो ग्रन्थ पूरा प्रकाशित था, न ही उसमें पद्यों का क्रम व्यवस्थित था और न ही ग्रन्थ का शुद्ध व पूर्ण नामकरण उनमें दिया गया था। साथ ही ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता के विषय में

निर्णीत व प्रामाणिक सूचनाओं का भी उनमें अभाव था। अतः इतनी अधिक मात्रा में कार्य अवशिष्ट होने से मैंने उस सदोष व अपूर्ण मूलपाठ को व उसके तदनुसारी अनुवादवाले प्रकाशनों को 'अप्रकाशितवत्' माना एवं इसे प्रकाशनार्थ चुना।

चूँकि मूलग्रन्थ के पाठ शुद्ध व मूलरूप में ही गृहीत हों – यह प्रथम लक्ष्य था, अतः टीकाओं का अन्वेषण किया, क्योंकि **'टीकाओं में ग्रन्थों के शुद्ध मूलपाठ प्रामाणिकरूप से सुरक्षित मिलते हैं'** – यह पाठ-सम्पादन का मूल मन्त्र है। प्रथमतः पण्डित महासेनकृत कन्नड़ टीका मिली, फिर केशववर्य्यकृत संस्कृत टीका भी मिली। गहराई में जाने पर देश भर के अनेकों ग्रन्थ-भण्डारों में इसकी अनेकों प्रतियों की सूचना मिली, जिनकी प्राप्ति के लिए पर्याप्त यात्रा एवं पत्र-व्यवहार आदि का समय एवं श्रमसाध्य कार्य करना पड़ा। अन्ततः जो रूप बन पड़ा, वह आप सब सुधी पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है।

इस ग्रन्थ के कार्य-निमित्त अनेकों विद्वानों एवं सज्जनों का परामर्श, सहयोग एवं मार्गदर्शन सहकारी रहा है; उन सभी का मैं हृदय से आभारी हूँ। विशेषतः दि० जैनमठ, मूड़बिद्री के भट्टारक चारुकीर्ति जी, जिन्होंने उदारभाव से ताड़पत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध करायीं; पं० देवकुमार जी शास्त्री, मूड़बिद्री (दक्षिण कर्नाटक), जिन्होंने इसकी प्रतिलिपियाँ व पाठ-सम्पादन में विशेष सहयोग दिया एवं श्री अनन्तभाई अमूलकजी शेठ, बम्बई; जिन्होंने इस कार्य में निरन्तर प्रेरणा व संबल प्रदान किया,-इनका मैं सादर उल्लेख करना चाहता हूँ। मेरे अनेकों मित्रों, परिजनों व धर्मानुरागी सज्जनों ने भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में प्रभूत प्रेरणा मुझे इस कार्य में निरत रहने-हेतु प्रदान की; मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञ हूँ।

मेरे उपकारी मार्गदर्शक स्व० डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी; पूर्वकुलपति डॉ० मण्डन मिश्र जी एवं वर्तमान कुलपति डॉ० वाचस्पति उपाध्याय जी का भी ऐसे गुरुतर कार्य के लिए अमूल्य मार्गदर्शन एवं उदार सहयोग सदैव रहा है, उनका मैं सविनय स्मरण करता हूँ। डॉ० राजाराम जी, आरा (बिहार) ने भी प्रतिलिपियाँ उपलब्ध कराने में निःस्वार्थ श्रम एवं कृपा की; यद्यपि उनका सान्निध्य प्राप्त होता ही रहा है, तथापि यहाँ विशेषतः स्मरण कर रहा हूँ। मैं चरमतः उस अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी विभूति का स्मरण करना चाहता हूँ, जिन्होंने मुझे अन्य प्रवृत्तियों से हटाकर मात्र शास्त्र-कार्य में निरत किया एवं अपनी ज्ञानसाधना से

अनेकत्र उपकृत किया; वे हैं आचार्यश्री विद्यानन्द जी। उनके प्रति किसी प्रकार की कृतज्ञता-ज्ञापन मेरे औद्धत्य का प्रदर्शन होगा, अत: उनके चरमोल्लेख के साथ ही इस चर्चा को विश्रान्त करता हूँ।

'अमृताशीति' के प्रकाशन के बाद कई बातें सीखने को मिलीं, उनका यथासंभव उपयोग इस बार किया है; तथापि आचार्यों का ज्ञान अगाध-सिन्धु है, जिसे कि क्षुद्र क्षयोपशमरूपी दुर्बल भुजाओं से पार कर सकना असंभव है। फलत: अनेकों त्रुटियाँ संभव हैं; सुधी पाठक उन्हें सुधारें एवं मुझे भी अवगत करावें, ताकि मैं भी अपने अज्ञान-मल का परिमार्जन कर सकूँ। जो श्रेय: है, वह तो मात्र मूलग्रन्थकर्ता एवं टीकाकार आचार्यों का है तथा जो दोष हैं, सो मेरी अज्ञानता की देन हैं, सो मैं विज्ञजनों का अपराधी हूँ। तथापि प्रयास जैसा बन पड़ा, आप सब की सेवा में प्रस्तुत है। कृपया अपने विचारों/प्रतिक्रियाओं से मुझे अवगत कराके अनुगृहीत करें।

प्रकाशक व मुद्रक संस्थाओं के सहयोग का सधन्यवाद स्मरण करता हुआ विराम लेता हूँ।

दीपमालिका, 23 अक्टूबर, 1995 **डॉ० सुदीप जैन**

सम्पादकीय

अध्यात्मतत्त्वप्रधान प्रस्तुत दार्शनिक ग्रन्थ की मूलभाषा अति प्रौढ़ एवं प्राञ्जल संस्कृत है, तथापि उसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन वाले कष्टकल्पनारूप जटिल भाषा-प्रयोगों का अभाव होने से इसकी विषयानुरूपता बनी रही है। इसकी दो टीकायें प्रस्तुत संस्करण में दी जा रही हैं, और दोनों ही टीकायें प्रथम बार प्रकाशन-आलोक में आ रही हैं। प्रथम टीका की भाषा प्राचीन कन्नड़ (हड़े कन्नड़) है, तथा दूसरी टीका की भाषा संस्कृत है। दोनों टीकायें भाषा की दृष्टि से 'बालबोधिनी' कही जा सकती हैं।

इस ग्रन्थ के पाठ-सम्पादन कार्य में प्रथमतः तो अति सन्तोष प्रतीत हुआ कि इस ग्रंथ का एकाधिक बार मूलरूप में प्रकाशन व अनुवाद कार्य हो चुका था, अतः लगा कि संभवतः मूलग्रन्थ के पाठ-सम्पादन में अधिक समस्या नहीं रहेगी तथा पाठभेद भी प्रायः नगण्य ही रहेंगे। परन्तु ताड़पत्रीय प्रतियों से मिलान करने पर पर्याप्त पाठ-भेद मिले। यहाँ तक कि 'पञ्चविंशति' इस नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए इस ग्रन्थ के 25 पद्य ही आज तक प्रकाशित हुए, जबकि मूल में पद्यों की संख्या 26 है। दोनों टीकाकारों ने भी परस्पर पाठभेदों का प्रयोग किया है, एवं तदनुसार ही टीका की है। किन्तु ताड़पत्रीय प्रतियों की प्रचुर परिमाण में उपलब्धता ने पाठ-सम्पादन कार्य को अपेक्षाकृत सरल बना दिया है।

प्रतियों का परिचय– मूड़बिद्री (कर्नाटक राज्य) स्थित 'श्रीमती रमारानी जैन शोध संस्थान' के ताड़पत्रीय ग्रन्थागार में प्रस्तुत ग्रन्थ की कुल बाईस (22) प्रतियाँ हैं, जो कि ग्रन्थांक क्रमांक 26, 101, 134, 162, 254, 316, 462, 492, 509, 514. 529, 552, 755, 771, 775 एवं 819 में हैं। इनमें कई ग्रंथों में इस ग्रन्थ की दो-तीन प्रतियाँ तक है।[1] इन बाईस प्रतियों में दो प्रतियाँ अपूर्ण हैं, शेष बीस पूर्ण हैं। इन

---

[1] विस्तृत विवरण के लिए भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'मूडबिद्री कन्नड़ ताड़पत्रीय ग्रन्थसूची' शीर्षक केटेलॉक देखा जा सकता है।

बाईस प्रतियों में से ग्यारह प्रतियाँ तो मूलमन्त्र हैं, तथा शेष ग्यारह प्रतियों में से छह प्रतियों में कन्नड़ टीका एवं शेष पाँच प्रतियों में संस्कृत टीका मिलती है। उपलब्ध प्रतियों में दशा की दृष्टि से उत्तम अवस्था में मात्र तीन प्रतियाँ हैं, चार प्रतियाँ जीर्ण अवस्था में हैं, तथा शेष पन्द्रह प्रतियों की दशा सामान्य है।

भाषा की दृष्टि से इन बाईस प्रतियों में से मात्र सात प्रतियाँ ही शुद्ध और सुवाच्य हैं, शेष सभी प्रतियों में लिपिकारों की अल्पज्ञता या प्रमाद के कारण अक्षरों, शब्दों एवं हिज्जे की अशुद्धियाँ रहीं हैं। उक्त सात प्रतियों में से भी मात्र पाँच प्रतियाँ ही पूर्ण, शुद्ध एवं पाठसम्पादन के योग्य होने से उन्हीं का प्रयोग किया गया है, वे हैं — ग्रन्थांक **26, 101, 514, 529 और 552 ।** इन प्रतियों का सामान्य परिचय निम्नानुसार है।

ग्रन्थांक 26 – इस प्रति में कुल चार पत्र हैं। **प्रस्तुत पाठसम्पादन कार्य में जो कन्नड़ टीका ली गयी है, उसकी 'आधार प्रति' यही है।** इसके प्रारम्भ में '**आचार्य** अकलंकदेव-**विरचिता स्वरूप-सम्बोधन-**पञ्चविंशति' कहकर टीकाकार का मंगलाचरण (श्रिय:पति....) दिया गया है, तथा तदुपरान्त टीकाकार ग्रन्थ के प्रथम पद्य की उत्थानिका में अपना परिचय, टीका का उद्देश्य आदि बताते हुए कहते हैं–

''श्रीमन्नयसेन-पण्डितदेव-शिष्यरप्प श्रीमन्महासेन पंडितदेवरु भव्यसार्थ-संबोधनार्थमागि स्वरूपसम्बोधन-पंचविंशति एंब ग्रंथमं माडुत्तमा ग्रंथद मोदळोलु इष्टदेवतानमस्कारमं माडिदपरु–''

तथा अन्त में मूलग्रन्थकार, अपनी परम्परा, ग्रन्थरचना-निमित्त एवं टीका का संक्षिप्त उल्लेख निम्नानुसार करते हैं–

''श्रीमदकलंकं कर्त मोदलागे षट्तर्कषण्मुखरुं समन्तादध्यात्मसाहित्यंवेदिगळुं मूलकर्तृगळुं नामधेयमॆप्प। श्रीमन्महोसनपण्डितदेवरिंदं, सूरस्त समस्तगणाग्रगण्यरप्प सैद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमत् पिरिय वासुपूज्य सैद्धान्तदेवर गुड्डनप्प पद्मरसं स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशतिय नवरससमीषदोळ् केळुत्तं कर्नाटकवृत्तियं स्वपरहितमागि माडिसिदं। मंगलमहा। श्री-श्री-श्री-श्री-श्री। श्री वीतरागाय नम:।''

ग्रन्थांक 101 – इस प्रति में कुल सात पत्र हैं। इसमें भी वही पूर्वोक्त कन्नड़ टीका है। मंगलाचरण भी वही (श्रिय:पति.....) है, मात्र टीकाकार का नाम 'महासेन पंडितदेवरु' की जगह '**श्री पद्मसेन पंडितदेवरु**' दिया गया है, शेष

प्रारम्भ-वचन अक्षरशः पूर्ववत् ही हैं।

अन्त में – **''स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशतिग्रन्थ परिसमाप्त्यनन्तरमी ग्रंथं तन्न पेळुवंगं शुभमस्तु।। श्री वीतरागाय नमः। श्री पंचगुरुभ्यो नमः। श्री मुनिभद्राय नमः।। श्री-श्री-श्री-श्री-श्री।।''**

इसी के अन्तिम भाग के तुरन्त बाद आगामी दो पत्रों में यही ग्रन्थ मूलमात्र लिखा गया है, किन्तु उसकी आधार-प्रति संस्कृत टीका वाली प्रति रही होगी, तभी तो उसके प्रारंभ में संस्कृत टीकाकार का मंगलाचरण (स्वरूप-सम्बोधनाख्य ग्रन्थस्यानम्य तन्मुनिम्। रचितस्याकलंकेन वृत्तिं वक्ष्ये जिनं नमिम्।।) दिया गया है तथा फिर मूलग्रन्थमात्र है; किन्तु इसके पाठ संस्कृत टीकावाली प्रति में हैं, कन्नड़ टीकावाली प्रति में नहीं। साथ ही अन्तिम पद्य में अन्तर है। इस प्रति में पाठ है–

''इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयं, पठन्ति शृण्वन्ति च ये कृतादरात्।
करोति तेषां परमात्म-संपदं, स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशतिः।।''

जबकि प्रकाश्य संस्कृत टीका में पाठ है–

''इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयं, य एतदाख्याति शृणोति चादरात्।
करोति तस्मै परमात्मसंपदं, स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशतिः।।''

ग्रन्थांक 514 – यह पत्र सं० 125 से लेकर पत्र सं० 132 तक के कुल सात पत्रों में लिखित पूर्ण प्रति है, इसमें भी महासेन पंडितदेव की कन्नड़ टीका है। इसमें व कन्नड़ टीका वाली प्रति में (26 नं०) कोई अन्तर नहीं है। मात्र अन्त में प्रशस्ति पूर्ण होने पर ''श्री वीतरागाय नमः'' के साथ 'श्री सरस्वत्यै नमः' भी कहा गया है। तथा ''श्री समयाचरण-मलधारि-वीर-बावरी-ललितकीर्तिदेवर भावनापंचकद पुस्तकक्के मंगलमहा।। श्री श्री श्री श्री श्री।''– यह लिखते हुए कन्नड़ का एक 'कंद' पद्य भी दिया है, जो कि निम्नानुसार है–

''सुरलोक राज्य सुखमं,
सुरराजं कोळेद पुल्लदक्कं बगेवं-
तिरे बगेदु बिसुटनेंदोडे,
नरराव सुखक्के बयसुवर संसृतियम्।।

(अर्थात् देवलोक के सुख को सुरराज देवेन्द्र ने सड़े हुए फूल के समान

समझकर उसे छोड़ दिया है। फिर भी यह मनुष्य 'इस संसार में सुख मिल रहा है' – ऐसा समझकर संसार में डूबा रहता है – यह अत्यन्त कष्ट की बात है।)

ग्रन्थांक 529 – यह 7 पत्रों की प्रति है। इसमें संस्कृत टीका है, तथा प्रकाश्य ग्रंथ में जो संस्कृत टीका दी जा रही है, उसकी 'आधार-प्रति' यही है। इसी ग्रन्थ में टीका के बाद यही ग्रन्थ मूलरूप में भी मात्र एक पृष्ठ में लिपिबद्ध है।

इसका प्रारम्भ इस प्रकार है – " **।। श्री वीतरागाय नमः ।।**

स्वरूपसम्बोधनाख्य ग्रन्थस्यानम्य तन्मुनिम् ।
रचितस्याकलंकेन वृत्तिं वक्ष्ये जिनं नमिम् ।।

श्रीमदकलंकदेवः स्वस्य भावसंशुद्धेर्निमित्तं सकलभव्यजनोपकारिणं ग्रंथेनाल्पमनल्पार्थं स्वरूपसम्बोधनाख्यं ग्रन्थमिमं विरचयंस्तदादौ मुख्यमंगलनिमित्तं परमज्योति-स्वरूपपरमात्मानं नमस्कुर्वन्निदमाह–

''मुक्तामुक्तैक.. नमामि तम्'' ।।

अन्त में– **भट्टाकलंकचन्द्रस्य सूक्तिनिर्मलरश्मयः ।**
विकासयन्तु भव्यानां हृत्कैरवसंकुलम् ।।
भट्टाकलंकदेवैः स्वरूपसंबोधनं व्यरचितस्य ।
टीका केशववर्यैः कृता स्वरूपोपलब्धिमवाप्तुम् ।।
।। श्री वीतरागाय नमः ।।

ग्रन्थांक 552 — इस प्रति में पत्र संख्या 94 से 98 तक कुल पाँच पत्र हैं। इसमें भी उपर्युक्त संस्कृत टीका यथावत् दी गयी है। प्रति ठीक एवं शुद्ध है, किन्तु अंतिम दो पत्र टूट गये हैं, तथापि ग्रन्थभंग नहीं है।

इन प्रतियों के अतिरिक्त ग्रन्थांक 162 की प्रति मात्र इसलिए उल्लेखनीय है कि इसकी पुष्पिका में लिपिकार ने अपना नाम एवं लेखनकाल का उल्लेख किया है। इसके अनुसार प्रति का लेखक (लिपिकार) बाडगेरे निवासी अण्णि शेट्टी के पुत्र नागण्ण हैं तथा लेखनकाल शालिवाहन शक संवत् 1368 (1446 ई०) है, किन्तु तिथि, पक्ष, एवं मास आदि का कोई उल्लेख इसमें नहीं है। अन्य किसी भी प्रति में लेखनकाल व लिपिकार का उल्लेख न होने से इसकी सीमित ही सही, किन्तु अपनी अलग महत्ता है।

अन्यत्र प्राप्त प्रतियों का विवरण–

प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के ग्रन्थागारों में 'स्वरूपसम्बोधन-पंचविंशति'

की अनेकत्र अनेकों पाण्डुलिपियाँ रहीं होंगी, किन्तु पक्की सूचना एवं विवरण मात्र दो पाण्डुलिपियों का ही उपलब्ध है, जो कि निम्नानुसार वर्णित है–

आरा (जैन सिद्धान्त भवन) की प्रति – जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) के ग्रन्थागार में प्रस्तुत ग्रन्थ की एकमात्र पाण्डुलिपि उपलब्ध है,[1] यह **मूलमात्र** है तथा इसकी **पद्य संख्या 25** है। इसमें भी 1 पद्य (तथाप्यति तृष्णावान्, …….. पद्य क्र. 20) छूटा हुआ है। प्रतीत होता है कि इसी प्रति के आधार पर अद्यावधि प्रकाशित इस ग्रन्थ के मूलपाठ प्रकाशित किये गये हैं, क्योंकि उनमें भी यही एक पद्य अनुपलब्ध है। फलत: उनकी भी पद्य संख्या 25 रह गयी है। इस प्रति का प्रारंभ एवं अन्त का विवरण निम्नानुसार है–

प्रारम्भ– **मुक्तामुक्तैकरूपो य: कर्मभि: संविदादिना।**
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमामि तम्।।1।।

अन्त– **"इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयम्।**
य एतदाख्याति श्रृणोति चादरात्।।
करोति तस्मै परमात्मसम्पदम्।
स्वरूप – सम्बोधन – पञ्चविंशति:।।25।।
अकरोदार्हितो ब्रहमसूरि – पंडितसद्विज:।
स्वरूप-संबोधनाख्यस्य टीकां कर्णाटभाषया।।"

टिप्पण– इसके प्रथम पद्य में जो 'संविदादिना' पद है, वह संस्कृत टीकावाली प्रति में प्राप्त होता है, जबकि कन्नड़ टीकावाली प्रति में इसके स्थान पर 'संविदादिभि:' पद प्रयुक्त हुआ है। अत: प्रतीत होता है कि इस प्रति के मूल में संस्कृत टीकावाली प्रति के मूलपाठ रहे हैं। तथा इस प्रति की आधार प्रति जो भी रही होगी, उसमें कोई कन्नड़भाषायी टीका भी रही होगी, जिसके कर्ता कोई **ब्रहमसूरि पंडितसद्विज** थे। किन्तु जैसे मूड़बिद्री ग्रन्थागार के ग्रन्थांक 101 वाली प्रति में जो इस ग्रन्थ का मूलपाठ मात्र है, वह संस्कृत टीका के आधार पर लिखे जाने से संस्कृत टीकाकार का मंगलाचरण उसमें दिया गया है – इसी प्रकार इस टीका प्रति का प्रशस्ति पद्य इसमें लिपिकार ने लिख दिया है। टीका इसमें नहीं है। इसमें लिपिकार का नाम, लेखन-संवत् आदि अन्य कुछ भी उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं।

---

1. द्रष्टव्य, जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावलि, भाग 1, पृष्ठ 68, ग्रंथांक 391.

कोल्हापुर की प्रति – कोल्हापुर के लक्ष्मीसेन मठ के ग्रन्थागार में भी स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः ग्रन्थ की ताड़पत्रीय प्रति है, जिसमें कन्नड़ टीका भी है। इस टीका के कर्त्ता नयसेन के शिष्य महासेन हैं। इस तरह यह वही कन्नड़ टीका प्रति है, जो इस ग्रन्थ में प्रकाशित है। इसकी प्रशस्ति के किंचित् भ्रमपूर्ण अनुवाद/भाव के कारण डॉ० ए०एन० उपाध्ये ने[1] महासेन को मूलग्रन्थकर्त्ता कहा है, जबकि मूलग्रन्थकर्त्ता आचार्य भट्टाकलंकदेव हैं। इस विषय में चर्चा प्रस्तावना में सविस्तार की गयी है, अतः यहाँ विस्तार एवं पुनरुक्तिभय से उसे नहीं ले रहे हैं। आदितः अन्तपर्यन्त इस प्रति में व प्रकाश्य कन्नड़ टीका व मूलपाठ में कोई भेद नहीं है।

इनके अतिरिक्त कोई प्राचीन पाण्डुलिपि मुझे इस ग्रन्थ की प्राप्त नहीं हो सकी है। अतः जो प्रकाशित प्रतियाँ मुझे उपलब्ध हो सकीं, उनका संक्षिप्त परिचय भी निम्नानुसार है–

शान्ति सोपान– सन् 1974 में इस संग्रह-ग्रन्थ का तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ था, वही प्रति मुझे प्राप्त हुई है। इसमें कुल 128 पृष्ठों में परमानन्द स्तोत्र, स्वरूप-सम्बोधन, सामायिक पाठ, मृत्यु-महोत्सव, समाधिशतक और महावीराष्टक– ये छह ग्रन्थ अनुवादसहित प्रकाशित हैं। इस संग्रह ग्रन्थ के संकलनकर्त्ता ब्र० ज्ञानानन्द जी न्यायतीर्थ एवं प्रकाशक: प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन जौहरी, दिल्ली हैं। इसके पृष्ठ क्रमांक 24 से 35 तक कुल बारह पृष्ठों में 'स्वरूप-सम्बोधन' शीर्षक से यह ग्रन्थ अर्थसहित प्रकाशित है। इसमें नयार्थ देने की भी चेष्टा अनुवादक ने की है। इसी संग्रह प्रति (शान्ति-सोपान) की भूमिका, पृष्ठ 14 पर एक पैराग्राफ में इस ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है।

टिप्पण– इसमें मात्र 25 पद्य हैं। प्रकाश्य प्रति का 20वाँ पद्य (तथाप्यति तृष्णावान्.......) इसमें अनुपलब्ध है। इसमें भी पद्य क्रं. 3 एवं 4 में क्रमव्यत्यय है। ग्रन्थ का नाम इसमें मात्र 'स्वरूप-सम्बोधन' दिया गया है, जबकि स्वयं ग्रन्थकार ने अन्तिम पद्य में ग्रंथ का नाम 'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः' स्पष्टरूप से दिया है। इसमें 'आधार प्रति' का परिचय भी नहीं दिया गया है।

बृहज्जिनवाणी-संग्रह– अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर (राज०) से अक्टूबर 1987 में प्रकाशित इस संग्रह-ग्रन्थ के

---

[1] द्रष्टव्य, शास्त्री कैलाश चन्द्र, जैन साहित्य का इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 188.

द्वितीय संस्करण में पृष्ठ 586 से 593 तक कुल आठ पृष्ठों में अर्थसहित प्रस्तुत ग्रन्थ का 'स्वरूप-सम्बोधन-स्तोत्र' इस शीर्षक से प्रकाशन किया गया है। इसमें भी मात्र पच्चीस छन्द हैं, तथा पूर्वोक्त बीसवाँ पद्य (तथाप्यति तृष्णावान्...) इसमें भी अनुपलब्ध है। इसमें पद्य क्रमांक 3 (ज्ञानाद् भिन्नो...) एवं पद्य क्र. 4 (प्रमेयत्वादि...) में क्रमव्यत्यय भी है। इसके सम्पादक डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल ने यथासंभव मूलपाठ व अनुवाद को शुद्ध रखने की चेष्टा की है, तथापि कई त्रुटियाँ रह गयी हैं; किन्तु मूलपाठ की आधारप्रति का कोई परिचय न दिया होने से इसमें अधिक दोष किसका है? आधारप्रति का या इस संग्रहप्रति के सम्पादक का-कहना कठिन है। तथापि कतिपय स्थूलदोष भी हैं, जिनसे सम्पादक थोड़ा ध्यान देकर बच सकते थे। इनका परिचय तुलनात्मक पाठ-भेदों के चार्ट में स्पष्ट किया गया है।

एक अन्य विचारणीय बिन्दु है प्रस्तुत संग्रहप्रति में नामकरण का। इसके नामकरण में सम्पादक ने 'पञ्चविंशति' पद जो कि ग्रंथ के अन्तिम पद्य में ग्रंथ नाम में स्पष्टतया सम्मिलित है, छोड़ दिया गया है; तथा 'स्तोत्र' पद जोड़ दिया गया है। जबकि इसमें 'स्तोत्र' संज्ञा, विषय तथा शैली-दोनों की दृष्टि से तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती। तथा इसका कोई आधार भी विद्वान् सम्पादक ने नहीं दिया है।

स्वरूपसम्बोधन प्रवचन – क्षुल्लक श्री मनोहरलाल जी वर्णी 'सहजानन्द' जी के द्वारा इस ग्रन्थ पर प्रवचन किये गये, जिनका संकलितरूप सन् 1976 में सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ (उ०प्र०) में पुस्तकाकार में प्रकाशित कराया गया। पृष्ठ 5 से 124 तक कुल 119 पृष्ठों में ये प्रवचन प्रकाशित हुए हैं, शेष पृष्ठों में भजन आदि हैं। सम्पादन जैसी किसी विधा का तो इस प्रति में स्पर्श तक नहीं किया गया है। अत: आधार-प्रति के परिचय, पाठ-भेद आदि की कल्पना भी कष्टकर ही है। किन्तु इसका आधार आरा (बिहार) वाली प्रति या उसी के आधार पर प्रकाशित कोई अन्य प्रति प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें भी कुल पच्चीस ही पद्य हैं, बीसवाँ पद्य इसमें भी छूटा हुआ है। इसमें भी पद्य क्र० 3 एवं 4 में क्रम- व्यत्यय है। तथा पाठ भी तदनुरूप ही है। सम्पादकीय तथा प्रस्तावना जैसी किसी भी प्रक्रिया की इसमें औपचारिकता भी नहीं निभायी गयी है। अत: कोई अन्य सूचना मिलना भी असंभव है।

प्रवचनकार ने प्रारंभ में कहा है कि 'स्वरूप-सम्बोधन' नाम का यह स्तोत्र श्रीमद्-अकलंकदेव द्वारा विरचित है। इस तरह ग्रंथ का नाम 'स्वरूप-सम्बोधन' एवं कर्ता का नाम अकलंकदेव स्पष्ट होता है। अन्तिम पद्य के व्याख्यान में भी ग्रंथकर्ता 'अकलंकदेव आचार्य' कहे गये हैं तथा ग्रंथ की पद्य संख्या 24 मानी गयी है एवं 25वाँ पद्य प्रशस्तिरूप माना गया है। प्रवचन सरल एवं सामान्य हैं।

पाठ-भेदों का संकलन एवं सम्पादन अत्यन्त जटिल कार्य है, विशेषतया प्रकाशित प्रतियों के बारे में। क्योंकि जैन समाज के अधिसंख्य विद्वान् 'सम्पादक' संज्ञा धारण करने के लिए किसी विशेष योग्यता की अपेक्षा नहीं समझते हैं, जिसका प्रमुख प्रमाण होता है कि वे प्राचीन आचार्यों के प्रकाश्य ग्रंथों को प्रकाशित करते समय उसकी 'आधार-प्रति' के बारे में कुछ भी उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझते हैं। जबकि यह किसी भी सम्पादक की प्राथमिक अनिवार्य योग्यता है। अत: प्रकाशित प्रतियों के पाठों के जो रूप हैं, वे कितने मूलाधारित हैं तथा कितने प्रूफरीडिंग की असावधानी से जन्मे हैं – यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। फिर भी हमें बिना किसी आधार के निर्णय नहीं करना है, अत: प्रकाशित प्रतियों के संग्रहकर्ता या सम्पादक के नाम से उस प्रति के पाठों को वर्गीकृत करेंगे, क्योंकि वे ही उन प्रतियों के गुण-दोषों के लिए उत्तरदायी है। तथा हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के पाठों को उनके ग्रन्थ-भण्डारों एवं टीकाओं आदि के नाम से उल्लिखित किया जायेगा।

निष्कर्ष – उपर्युक्त सम्पूर्ण विश्लेषण एवं तथ्यों के आधार पर कतिपय बातें सुस्पष्ट हैं–

1. प्राचीन प्रतियों में सर्वत्र ग्रन्थ का नामकरण 'स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशतिः' स्पष्ट है, जबकि आधुनिक सम्पादकों-प्रकाशकों ने इसमें से 'पंचविंशति' पद मनमाने ढंग से हटा दिया है। जो कि निराधार एवं नितान्त अनुचित प्रयत्न है।

2. एकमात्र आरा (बिहार) की प्रति को छोड़कर, शेष समस्त प्राचीन पाण्डुलिपियों में 26 पद्य हैं, जबकि आरा की प्रति में तथा प्रकाशित समस्त प्रतियों में 25 ही पद्य हैं। ग्रन्थ का 20वाँ पद्य 'तथाप्यति तृष्णावान्...'' इनमें छूटा हुआ है।

3. प्रकाशित प्रतियों में पाठ-दोषों की प्रचुरता है, अत: स्वाभाविकरूप से अर्थभेद

भी आ गया है।

4. प्रकाशित प्रतियों के सम्पादकों ने अपनी आधार-प्रतियों के बारे में कोई परिचय नहीं दिया है, जो कि वैज्ञानिक सम्पादन-पद्धति के अनुसार अनुचित है।

5. ग्रन्थकर्ता का नाम सभी प्रतियों में **भट्ट अकलंकदेव** ही माना गया है। जबकि समालोचकों ने मूलग्रंथकर्त्ता के रूप में 'महासेन पण्डितदेव' के नाम की भी संभावना व्यक्त की है।

प्रकाशित प्रतियों के संकेत

1. 'वृहज्जिनवाणी संग्रह', जयपुर में जो 'स्वरूप-सम्बोधन' की प्रति प्रकाशित है, उसके संपादक डॉ० हुकमचंद भारिल्ल हैं, अत: उसे हम **'भारिल्ल प्रति'** संज्ञा देंगे।
2. डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित 'लघीयस्त्रयादि संग्रह' में जो 'स्वरूप सम्बोधन' प्रकाशित है, उसे हम उसके सम्पादक के नाम पर **'महेन्द्र प्रति'** संज्ञा देंगे।
3. 'शान्तिसोपान' में जो प्रति प्रकाशित है, उसके संकलनकर्त्ता 'ब्र० ज्ञानानन्द न्यायतीर्थ' हैं। अत: इस प्रति को हम **'ज्ञानानन्द प्रति'** संज्ञा देंगे।
4. 'स्वरूप-सम्बोधन प्रवचन' में जो इस ग्रन्थ के पाठ प्रकाशित हैं, उनका उल्लेख हम इसके प्रवचनकर्त्ता क्षुल्लक मनोहरलाल जी वर्णी के नामानुसार **'वर्णी प्रति'** के नाम से करेंगे।

हस्तलिखित प्रतियों के संकेत

चूंकि हस्तलिखित प्रतियों के पाठों में प्राय: समानता है, अत: सभी प्रतियों को अलग-अलग नाम देना व्यावहारिक नहीं होगा। क्योंकि प्रतियों के नाम-संकेत पाठभेदों के वर्गीकरण के लिए किये जाते हैं, अत: हम इन्हें निम्नानुसार वर्गीकृत करेंगे–

1. प्राय: समस्त कन्नड़ टीका वाली प्रतियों एवं मूलपाठ वाली शुद्ध प्रतियों के पाठ समान हैं। जिनमें लिपिकार की अज्ञानता के दोष अतिस्पष्ट हैं, अत: उन प्रतियों के पाठ-भेदों का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है और चूंकि

'प्रकाश्य प्रति' के मूलपाठ महासेन पण्डित देव कृत कन्नड़ टीका वाली प्रति के ही हैं; संस्कृत टीका वाली प्रति में जो स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशति: मूल के पाठभेद हैं, वे 'पादटिप्पण' के रूप में दिये गये हैं। अत: प्रकाश्य कन्नड़ टीका वाले मूलपाठों व इनके समान पाठों के '**कन्नड़ प्रति**' संज्ञा दी गयी है।

2. संस्कृत टीका में तथा इसके आधार पर तैयार प्रतिलिपियों में पाठ समान होने से इन पाठों को '**संस्कृत प्रति**' संज्ञा दी गयी है।

उपर्युक्त 'कन्नड़ प्रति' एवं 'संस्कृत प्रति' की समस्त पाण्डुलिपियाँ श्रीमती रमारानी जैन शोध संस्थान, जैनमठ, मूड़बिद्री (दक्षिण कर्नाटक जिला) में संग्रहीत है।

3. कोल्हापुर स्थित लक्ष्मीसेन मठ में जो 'स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशति:' की प्रति है, उसके पाठभेदों को '**कोल्हापुर प्रति**' के नाम से उल्लिखित किया गया है।

4. श्री देवकुमार जैन प्राच्य ग्रन्थागार, जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) के ग्रन्थागार में जो 'स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशति:' की पाण्डुलिपि है, उसके पाठों को हम '**आरा प्रति**' संज्ञा देंगे।

पाठ-भेदों की सूची

पद्य क्र.	**पंक्ति सं.**	**प्रति में पाठ प्रकाश्य**	**पाठभेद 1**	**पाठभेद 2**
1	1	संविदादिभि:	संविदादिना*	×
2	1	सोपयोगो य:	सोपयोगोऽयं*	×
2	1	सोऽस्त्यात्मा	सोऽस्त्यामा, (ज्ञा. प्रति)	×
2	2	ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्त:	ग्राह्यो ग्राह्यनाद्यन्त: (सं. प्रति)	×
3	1	न नाभिन्नो	न चाभिन्नो– (भा.प्रति, ज्ञा.प्रति, व.प्रति)	×
3	1	कथंचन	कथं च न (आ.प्रति)	×
5	1	ज्ञानमात्रोऽपि	देहमात्रोऽपि (व प्रति)	×
5	1	सम्मत:	संमत: (आ.प्रति)	नैव स:(भा.प्रति, ज्ञा.प्रति,व.प्रति)

5	2	तत्सर्वगतत:	तत: सर्वगत:*	×
5	2	सोऽपि (सं. प्रति भी)	चायं (शेष सभी)	×
6	1	देकानेकोऽपि	देकोऽनैकोऽपि (आ.प्रति)	देकोऽनेकोऽपि (शेष सभी)
6	2	स्वरूपत्वाद (सं. प्रति भी)	स्वभावत्वाद (शेष सभी)	×
7	1	स वक्तव्य:	नावक्तव्य: (भा.प्रति, ज्ञा.प्रति, व.प्रति)	×
7	2	नापि	नैव (व. प्रति)	×
8	2	समूर्ति	स मूर्ति (ज्ञा. प्रति)	×
10	1	कर्मणां	कारणं (व. प्रति)	×
11	1	चारित्रमुपाया	चारित्रमुपाय*	×
11	2	सौस्थित्य	सास्तिक्य (आ. प्रति)	संस्थित्य (शेष सभी प्रतियों में)
11	2	स्मृतम् (सं. प्रति भी)	मतम्*	×
12	1	यथावद्वस्तु	यथावद्वस्तु (ज्ञा. प्रति)	×
12	1	निर्नीति:	निर्णीति: (भा. प्रति, ज्ञा. प्रति, व. प्रति)	×
12	2	व्यवसायात्मा (सं. प्रति भी)	व्यवसायात्म*	×
13	1	पर्याये	चारित्रे (व प्रति)	×
13	2	माध्यस्थं	माध्यस्थ्यं (भा. प्रति, ज्ञा. प्रति, व. प्रति)	×
14	2	भावनादार्ढ्यं	भावनादाढ्यं (भा. प्रति)	×
14	2	अथवा मतम्	अथवाऽपरम् (आ. प्रति, ज्ञा प्रति)	अथवा परम् (भा प्रति, व. प्रति)
15	1	यदेतन् (सं. प्रति भी)	तदेतन् (शेष सभी में)	×
15	2	तद्बाह्यं	यद्बाह्यं (भा. प्रति)	×
15	2	कालादिस्तपश्च	कालादि तपश्च*	×
16	1	दौस्थ्ये	दौ:स्थ्ये (भा. प्रति. ज्ञा. प्रति, व. प्रति)	×
16	2	आत्मनो	आत्मानं*	×
16	2	भावयेत्तत्त्वं	भावयेन्नित्यं*	×

17	1	रञ्जितं चित्त:	रञ्जितं चेत:*	×
17	2	दुरादेयो (सं. प्रति भी)	दुराधेयो (शेष सभी)	×
18	2	निरालम्बोऽन्यत: स्वस्मिन् (सं. प्रति में)	निरालम्बो भवान्यस्माद् (शेष सभी में)	× ×
18	2	माश्रित्य	मवलम्ब्य (व. प्रति)	×
20	1	तदाप्यति	तथाप्यतीव (सं. प्रति)	(शेष प्रतियों में यह पद्य है ही नहीं)
20	2	प्रभूतिस्ते	प्रसूतिस्ते (सं. प्रति)	×
22	2	फले (सं. प्रति भी)	सुखे (शेष सभी में)	×
22	2	करिष्यसि	करिष्यति (भा. प्रति, ज्ञा. प्रति, व. प्रति)	×
24	2	अनाकुलं	अनाकुल: (सं. प्रति)	अनाकुल (शेष सभी प्रतियों में)
24	2	संवेद्य (सं. प्रति भी)	संवेद्ये (शेष सभी प्रतियों में)	×
25	1	स्थिरं (सं. प्रति भी)	स्थितं (शेष सभी प्रतियों में)	×
25	1	विनश्वरे	विनश्वरम् (भा. प्रति, ज्ञा. प्रति, व. प्रति)	×
25	2	लभस्वेत्थं	लभेत्स्वोत्थं (भा. प्रति, ज्ञा. प्रति, व. प्रति)	×
25	2	परम्	पदम् (व. प्रति के अतिरिक्त अन्य सभी प्रतियों में)	×
26	3	परमात्म (सं. प्रति भी)	परमार्थ (शेष सभी प्रतियों में)	×

नोट:- मूड़बिद्री की प्रकाश्य कन्नड़ टीकावाली प्रति एवं कोल्हापुर वाली प्रति के पाठ समान हैं।

*तारांकित चिह्नवाले पाठ अन्य सभी प्रतियों में समान है।

प्रतिके कूट-संकेतों का विवरण इस प्रकार है:-

सं. प्रति – मूड़बिद्री के जैन मठस्थित ग्रन्थागार की संस्कृत टीका (इसी संस्करण में प्रकाशित) वाली प्रति।

आ. प्रति – देवकुमार जैन ग्रन्थागार, आरा (बिहार) से प्राप्त प्रति।

को. प्रति – कोल्हापुर के मठ में उपलब्ध ताड़पत्रीय प्रति।

भा. प्रति डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा सम्पादित प्रति, जो कि जयपुर से प्रकाशित 'बृहज्जिनवाणी संग्रह' में दी गयी है।

ज्ञा. प्रति – ब्र. ज्ञानानन्द न्यायतीर्थ द्वारा संकलित एवं सम्पादित 'शान्ति सोपान' नामक संकलन पुस्तिका में प्रकाशित प्रति।

व. प्रति – क्षु. मनोहरलाल वर्णी 'सहजानन्द' द्वारा 'स्वरूप-सम्बोधन-प्रवचन' नामक पुस्तक में उपलब्ध पाठ।

पद्य-क्रमांक – प्रस्तुत ग्रन्थ की समस्त प्रकाशित प्रतियों एवं 'आरा प्रति' में पद्यों की संख्या 25 है। जबकि अन्य समस्त ताड़पत्रीय प्रतियों में पद्यों की संख्या 26 है। ताड़पत्रीय प्रतियों एवं प्रस्तुत संस्करण में प्रकाश्य प्रति का पद्य क्रमांक 20 (बीसवां) –

''तथाप्यतितृष्णावान् हन्त ! मा भूस्त्वात्मनि।
यावत्तृष्णा–प्रभूतिस्ते तावन्मोक्षं न यास्यसि।।'

उपलब्ध नहीं होने से पद्य क्रमांक 19वें तक तो सभी प्रतियों में पद्य-क्रमांक समान रहे हैं, किन्तु आगे के पद्य क्रमांकों में एक-एक संख्या का अन्तर आ गया है। जैसे कि प्रकाशित प्रतियों एवं 'आरा प्रति' में पद्य क्रमांक 20वें से 25वें तक जो-जो पद्य हैं, वे प्रकाश्य ग्रन्थ में पद्य क्रमांक 21वें से 26वें हैं। तथा उपर्युक्त पद्य (तथाप्यति. ..) प्रकाश्य ग्रंथ में पद्य क्रमांक 20 पर है, जो कि समस्त हस्तलिखित प्रतियों (आरा प्रति को छोड़कर) में इसी क्रम पर आया है।

इन सब बातों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में जिस पद्धति से सम्पादन एवं अनुवाद आदि कार्य किये जा रहे हैं, उनका परिचय भी अपेक्षित है।

क्रमश: सर्वप्रथम कन्नड़ टीकाकार के द्वारा प्रस्तुत उत्थानिका दी गयी है, जिसे **'उत्थानिका (कन्नड़ टीका)'** शीर्षक दिया गया है। तदुपरान्त संस्कृत टीकाकार के द्वारा प्रदत्त उत्थानिका दी गयी है, जिसे **'उत्थानिका (संस्कृत टीका)'** संज्ञा दी गयी है। इन दोनों उत्थानिकाओं के उपरान्त मूलग्रन्थ का पद्य दिया गया है, इसका कोई शीर्षक नहीं है एवं पद्य-क्रमांक प्रत्येक पद्य के साथ दिया गया है। मूल पद्य के बाद सर्वप्रथम **'कन्नड़ टीका'** शीर्षक के अन्तर्गत महासेन पण्डितदेव की कन्नड़ टीका दी गयी है, फिर केशववर्य्य (केशवण्ण?) कृत संस्कृत टीका को **'संस्कृत टीका'** शीर्षक से दिया गया है। चूंकि यहाँ तक की सामग्री मूल पाण्डुलिपियों की है, अत: अनुवाद आदि कार्यों का सीमांकन करने हेतु इसके बाद एक आड़ी मोटी लाइन (लेड) डाली गयी है। उसके नीचे सर्वप्रथम कन्नड़ टीका

की उत्थानिका का हिन्दी-रूपान्तरण **'उत्थानिका (कन्नड़ टीका)'** इसी शीर्षक से एवं संस्कृत टीका की उत्थानिका का हिन्दी-रूपान्तरण **'उत्थानिका (संस्कृत टीका)'** इस शीर्षक से दिया गया है। दोनों उत्थानिकाओं के हिन्दी रूपान्तरण के बाद मूल ग्रन्थ के पद्य का प्रतिपद हिन्दी अर्थ **'खण्डान्वय'** शीर्षक से दिया गया है। इसके बाद दोनों टीकाओं (कन्नड़ टीका एवं संस्कृत टीका) का हिन्दी अनुवाद क्रमश: **'हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)'** एवं **'हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)'** शीर्षकों से दिया गया है। यहाँ तक अनुवादन/भाषान्तरण कार्य करने के बाद **'विशेषार्थ'** नाम से एक अतिरिक्त शीर्षक प्रत्येक पद्य के साथ दिया गया है; जिसमें मतार्थ, नयार्थ, आगमार्थ, भावार्थ आदि जहाँ जैसी दृष्टि से कथन है, तदनुसार अपेक्षित स्पष्टीकरण **आगम-प्रमाण-पूर्वक** किया गया है।

इस प्रकार प्रत्येक पद्य के अनुवाद-विशेषार्थ आदि कार्यों के बाद ग्रन्थ पूर्ण होने पर अन्त में चार परिशिष्ट दिये गये हैं, जिनमें **प्रथम परिशिष्ट** में **पद्य-अनुक्रमणिका, द्वितीय परिशिष्ट** में **'शब्दानुक्रमणिका'** तथा **तृतीय परिशिष्ट** में 'विशेषार्थ' शीर्षकान्तर्गत **अन्तर्गत** उल्लिखित, एवं प्रस्तावना में पादटिप्पणों में संकेतित **सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची है**। तथा चतुर्थ परिशिष्ट में 'अज्ञातकर्तृक संस्कृत टीका' टिप्पणसहित दी गई है।

ग्रन्थ के पद्यों का विषय-विभाजन ग्रन्थ के पूर्व **'विषयानुक्रमणिका'** में किया गया है तथा उसके भी पूर्व ग्रन्थ, ग्रन्थकार, टीकाकारों एवं टीकाओं के विषय में विवेचन **'प्रस्तावना'** में किये गये हैं।

इस ग्रन्थ की टीकायें पदव्याख्या शैली की हैं, अत: उनके हिन्दी अनुवाद में वाक्य-विन्यास-सौष्ठव एवं मूलानुगामी अनुवाद इन दोनों के सन्तुलन में बहुत समस्या रही। यद्यपि कोष्ठकों में संयोजक पदों का प्रयोग कर इस बारे में अपनी ओर से प्रयत्न किया गया है, तथापि वैसा वाक्य-गठन नहीं बन पाया है, जो सीधी गद्यात्मक टीका में सहज सम्भव होता है।

अपनी ओर से पूर्ण सावधानी रखते हुए भी अल्पज्ञ होने के कारण अनेकों त्रुटियाँ सम्भावित हैं, आशा है विज्ञ पाठकगण उन्हें सुधारकर मुझे भी उनसे अवगत कराने की अनुकम्पा करेंगे।

25 अक्टूबर 1995

—डॉ० सुदीप जैन

प्रस्तावना

पुण्यभूमि भारत अपनी आध्यात्मिक ज्ञान-सम्पदा एवं साधना के कारण सदा से 'विश्वगुरु' की पदवी से विभूषित रहा। पाश्चात्य देशों में भौतिक-अभ्युत्थान की दिशा में निरन्तर शोध-साधना चली है; वहीं भारत में नैतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए अनवरत साधना की गयी, अनेकों दृष्टियों से इस विषय में व्यापक चिंतन किया गया; निष्कर्षत: अनेकों आयाम विकसित हुए। अत: आत्मविद्या इस देश का गौरव रही है– यह सर्वमान्य तथ्य है। तथा जैनश्रमण आत्मविद्या के विशारद/पारंगत विशेषज्ञ थे – यह तथ्य वैदिक साहित्य में भी स्वीकार किया गया है–

"श्रमणा: वातरशना: आत्मविद्याविशारदा:"[1]

अपने अनुभव एवं साधना की पूंजी के बल पर एकत्व-विभक्तस्वरूपी आत्मतत्त्व[2] की उद्भावना की घोषणा करने वाले जैन श्रमणों ने साहित्य-सृजन भी अति विपुल परिमाण में किया था, जो काल एवं राजनैतिक-साम्प्रदायिक विद्वेषों के भीषण प्रहारों से अधिकांशत: विनष्ट होने के बाद भी आज पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। इसी साहित्य-रत्नाकर की दैदीप्यमान मणि है **'स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशति:'**।

ग्रन्थकर्त्ता:– प्रस्तुत ग्रन्थ के ग्रन्थकर्त्ता के बारे में किंचित् भ्रमात्मक स्थिति है। यद्यपि प्रकाशित कृतियों में सभी सम्पादकों ने इसके ग्रन्थकर्त्ता के रूप में भट्ट **अकलंक देव** का नाम स्वीकृत किया है, किन्तु सुनिर्णीतरूप में नहीं। क्योंकि इस ग्रन्थ के रचयिता के रूप में **महासेन पंडितदेव** का उल्लेख भी मिलता है। अत: इस विषय में प्रथमत: कर्ता का निर्धारण अपेक्षित है; कर्ता का परिचय तदुपरान्त देना उचित रहेगा।

ग्रन्थकर्त्ता के रूप में महासेन पंडितदेव का सर्वप्रथम कथन **'नियमसार'** के **टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव** ने किया है। नियमसार टीका में उन्होंने 'स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशति:' के दो पद्य (पद्य क्र. 12 एवं पद्य क्र. 3) उद्धृत किये हैं। नियमसार गाथा 159, की टीका के बाद उद्धृत पद्य क्र. 12 (यथावद्वस्तु,

---

1. भागवत, 11/2/20।
2. "तं एयत्त-विहत्तं दाएज्जं अप्पणो सविहवेण..."–समयसार, गाथा, 3

..) की 'उत्थानिका' में "**उक्तञ्च षण्णवति-पाषंडि-विजयोपार्जित-विशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः**" तथा 'नियमसार' गाथा 162 की टीका के बाद उद्धृत पद्य क्र. 3 (ज्ञानाद् भिन्नो...) की उत्थानिका में "**तथा चोक्तं श्री महासेनपण्डितदेवैः**" लिखकर 'स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशतिः' के ग्रन्थकर्त्ता के रूप में महासेन पण्डितदेव का नाम स्वीकृत किया है। -यही एकमात्र प्रामाणिक आधार है महासेन पण्डितदेव को ग्रन्थकर्त्ता मानने का। अन्यत्र जो टीका-प्रतियों की पुष्पिका के आधार पर डॉ० ए०एन० उपाध्ये प्रभृति विद्वानों ने महासेन पण्डितदेव की ग्रन्थकर्त्ता के रूप में परिकल्पना की है, वह संभवतः पुष्पिका के पाठ का सही अनुवाद न होने के कारण पनपी है। वह पुष्पिका एवं उसका मूलानुगामी अनुवाद ग्रन्थ के अन्त में दिया जा रहा है, अतः यहाँ उसकी पुनरुक्ति अपेक्षित नहीं है। रही बात पद्मप्रभमलधारिदेव के द्वारा किये गये उल्लेख की, तो उसके कई कारण हो सकते हैं। चूंकि महासेनपण्डितदेव आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव से पूर्ववर्ती थे; और उनकी टीका भी नियमसार के टीकाकार के समक्ष उपस्थित रही होगी, अतः संभव है कि टीकाकार को ही मूलग्रंथकार समझ लिया गया हो। अथवा किसी प्रतिलिपिकार ने भ्रमवश महासेन पण्डितदेव को मूलग्रन्थकार के रूप में उल्लेख कर दिया हो, और वही प्रतिलिपि नियमसार के टीकाकार के समक्ष उपस्थित रही हो। यह भी संभव है कि टीकाकार महासेन की टीका इतनी जन-समादृत हुई हो कि 'स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशतिः' नामक यह रचना 'महासेन पण्डितदेववाली' इस रूप में प्रसिद्ध हो गयी हो। चाहे जो भी कारण रहा हो, किन्तु यह बात सुस्पष्ट है कि 'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः' महासेन पण्डितदेव की रचना नहीं है। वे इस ग्रन्थ के टीकाकार हैं — यह तथ्य इस संस्करण में प्रकाश्य टीकाओं से स्पष्ट है।

फिर मूलग्रन्थकार के रूप में भट्ट अकलंकदेव की पुष्टि के लिए जो प्रमाण प्राप्त होते हैं, उनका अवलोकन भी अपेक्षित है—

(i) प्रथम कन्नड़ टीकाकार महासेन पण्डितदेव लिखते हैं—

"**श्रीमदकलंकं कर्त** मोदलागे षट्तर्कषण्मुखरं समन्तादध्यात्मसाहित्य-वेदिगळुं **मूलकर्तृगळुं नामधेयमंप्प**..."

अर्थात् श्रीमद् अकलंकदेव इस ग्रंथ के कर्त्ता हैं, वे षट्तर्कों के लिए षण्मुख-कार्तिकेय के समान हैं। वे सर्वतः अध्यात्म-साहित्य के बड़े ही प्रगल्भ

ज्ञाता हैं एवं इस ग्रंथ के मूलकर्त्ता हैं।

(ii) संस्कृत टीकाकार केशववर्य्य लिखते हैं–

स्वरूप-सम्बोधनाख्यग्रन्थस्यानम्य तन्मुनिम्।
रचितस्याकलंकेन वृत्तिं वक्ष्ये जिनं नमिम्।। *(मंगलाचरण)*
भट्टाकलंकदेवैः स्वरूपसम्बोधनं व्यरचितस्य।
टीका केशववर्य्यैः कृता स्वरूपोपलब्धिमवाप्तुम्।। *(समापन)*

अर्थात् अकलंकदेव द्वारा रचित 'स्वरूपसम्बोधन' नामक ग्रन्थ की वृत्ति मैं कहूँगा।...

भट्ट अकलंकदेव के द्वारा विरचित 'स्वरूपसम्बोधन' ग्रंथ की टीका केशववर्य्य के द्वारा स्वरूपोपलब्धि प्राप्त करने के लिए की गयी।

(iii) **'सप्तभंगीतरंगिणी'** के रचयिता विमलदास ने भंगों के निरूपण में (पृष्ठ 79 पर) 'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः' का एक पद्य (प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैः...) **"तदुक्तं भट्टाकलंकदेवैः"**– कहकर उद्धृत किया।

उपर्युक्त तीनों प्रमाणों से स्पष्ट है कि दोनों टीकाकारों महासेन पण्डितदेव एवं केशववर्य्य ने तथा 'सप्तभंगीतरंगिणी' के कर्त्ता विमलदास-इन तीनों मनीषियों ने स्पष्टतया 'स्वरूपसंबोधन-पंचविंशतिः' के ग्रन्थकर्त्ता के रूप में भट्ट अकलंकदेव का नाम घोषित किया है।

यद्यपि अकलंकदेव के नाम से कई आचार्य एवं ग्रन्थकार हो चुके हैं, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता तत्त्वार्थराजवार्तिक, न्यायविनिश्चय जैसे महान् ग्रन्थों के प्रणेता महान् तार्किक आचार्य भट्ट अकलंकदेव ही हैं – यह बात उपर्युक्त सभी मनीषियों ने इनके नाम के साथ **'भट्ट'** पदवी का प्रयोग करके संकेतित कर दी है। तथा ग्रन्थ की भाषा, शैली आदि भी इस तथ्य को परिपुष्ट करती हैं (विशेष द्रष्टव्य, 'प्रस्तावना' में ग्रन्थ-विषयक विवेचन)। अतः सर्वप्रथम ग्रन्थकर्त्ता भट्टअकलंकदेव का जीवन-परिचय एवं कृतियों का परिचय यहाँ अपेक्षित है।

भट्ट अकलंकदेव– कलिकालसर्वज्ञ आचार्य समन्तभद्र के उपरान्त बौद्धों के भीषण प्रहारों से आहत जैनदर्शन एवं न्याय की न केवल रक्षा करने वाले, अपितु बौद्धों के धर्मकीर्ति सदृश आचार्यों से जमकर लोहा लेने वाले, **'भट्ट'** उपाधि से विभूषित तार्किकशिरोमणि आचार्य अकलंकदेव एक ऐसे मिथक बन चुके थे, कि

कथाग्रन्थों में भी इनके जीवन-परिचय-विषयक कई कथायें एवं किंवदन्तियाँ प्रचलित हो गयीं। उन कथाग्रन्थों के विवरणों का सार निम्नानुसार प्रस्तुत है–

इनके जीवन-वृत्त के बारे में कथाग्रन्थों में कतिपय बिन्दुओं पर मत-वैविध्य है; इनमें प्रमुख बिन्दु है इनका कुल-परिचय। प्रभाचन्द्रकृत **'कथाकोष'** के अनुसार ये मान्यखेट के राजा **शुभतुंग** के **मन्त्री पुरुषोत्तम** के पुत्र थे। तथा **'राजाबलिकथे'** में इन्हें काञ्चीपुरी निवासी **जिनदास नामक ब्राहमण** का **पुत्र** बतलाया गया है। **'तत्त्वार्थराजवार्तिक'** के प्रथम अध्याय की प्रशस्ति के अनुसार ये **लघुहव्व नृपति के ज्येष्ठ पुत्र** थे। नेमिदत्त कृत **'आराधनाकथाकोष'** में भी इन्हें मान्यखेट के राजा शुभतुंग के **मन्त्री पुरुषोत्तम का पुत्र** बताया गया है तथा इनकी माता का नाम 'पद्मावती' कहा गया है। इनके छोटे भाई का नाम 'निष्कलंक' भी यहाँ स्पष्टरूप से सूचित है। अब इनमें से कौन-सा परिचय सही या प्रामाणिक है?– कहना कठिन है। परन्तु चाहे कुल-परिचय की दृष्टि से ये मन्त्रीपुत्र या ब्राह्मणपुत्र या राजपुत्र-कुछ भी कहे गये हों; किन्तु शेष जीवनवृत्त प्राय: सभी कथाग्रन्थों में समान है। जो कि संक्षेपत: निम्नानुसार है–

अकलंक और निष्कलंक नामक दोनों भाईयों ने बाल्यावस्था में ही आष्टाह्निक ब्रहमचर्यव्रत अंगीकार किया था, जिसका कि उन्होंने यावज्जीवन निर्वाह किया। वह युग धर्मकीर्ति-सदृश धुरन्धर बौद्ध-तार्किकों के कारण बौद्धदर्शन के चरमोत्कर्ष का युग था। सर्वत्र बौद्धधर्म का प्रचार था। राजा भी उसके अनुयायी हो बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान कर रहे थे; जिसके फलस्वरूप तर्कशक्ति व राजशक्ति के समवेत प्रहारों से भारत के प्राचीन धर्म–वैदिक एवं जैनधर्म, बुरी तरह मर्माहत थे। अत: बौद्धों से टक्कर लेने के लिए उस शास्त्रार्थ-युग में बौद्धदर्शन का सूक्ष्म अध्ययन अनिवार्य हो गया था, अन्यथा उनका खंडन कैसे संभव होता? अतएव इन दोनों भाईयों ने **'महाबोधि-विद्यालय'** में बौद्धशास्त्रों के सूक्ष्म-अध्ययनार्थ बौद्ध बनकर प्रवेश लिया और बौद्धशास्त्रों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने लगे।

किन्तु भाग्यचक्र कुछ और ही ताना-बाना बुन रहा था। एक दिन बौद्ध गुरु सप्तभंगी-सिद्धान्त की समीक्षा कर रहे थे, किन्तु सप्तभंगी-विषयक पाठ अशुद्ध होने के कारण अर्थसंगति नहीं बैठ रही थी। गुरु के कहीं कार्यवश जाने पर प्रखरबुद्धि अकलंक के यौवनोत्साह ने जोर मारा और दूरगामी परिणाम का

विशेष-विचार किये बिना उन्होंने उस अशुद्ध पाठ को शुद्ध कर दिया। बौद्ध गुरु संशोधित-पाठ को देखते ही समझ गये कि 'हो न हो, इन छात्रों में कोई जैन अवश्य है।' निर्णयार्थ परीक्षा आयोजित की गयी। जिन-प्रतिमा को पैर से लांघने की कठिन परीक्षा, किन्तु अकलंक अपने बुद्धि-कौशल से उनमें बच गये; क्योंकि उन्होंने प्रतिमा पर एक धागा डाल दिया था। और चूंकि लेशमात्र भी परिग्रह होने पर जिनप्रतिमा पूज्य नहीं रह जाती है, अत: उस अपूज्य हो चुकी प्रतिमा को लांघने में उन्हें कोई दुविधा नहीं हुई। तथापि सूक्ष्म गुप्तचरी आदि पद्धतियों से अन्तत: इनका जैनत्व प्रकट हो गया और क्रूर बौद्धों ने इन दोनों भाईयों को बन्दीगृह में डाल दिया। अपने चातुर्य से ये बच तो निकले, किन्तु पता चलते ही बौद्धों ने अनुचरों को अश्वारूढ़ हो इन्हें खोजने व इनका वध कर देने की आज्ञा दे दी। कहाँ पैदल अकलंक-निष्कलंक और कहाँ तीव्रगामी अश्वों पर सवार सैनिक, अत: शीघ्र ही ये उनकी दृष्टिपथ में आ गये, किन्तु पकड़े जाने के पूर्व ही चपलतापूर्वक अकलंक हो एक सरोवर में कमल के पुष्पों-पत्रों की ओट में छिपकर बैठ गये और निष्कलंक भागते गये। उन्हें भागता देखकर अश्वारोही सैनिकों के भय से उस तालाब पर कपड़े धो रहा एक धोबी भी प्राणभय से निष्कलंक के साथ भाग खड़ा हुआ। सैनिकों को तो मात्र दो व्यक्तियों का पता था, मुखमुद्रा आदि का परिचय नहीं था; अत: उन्होंने शीघ्र ही घेरकर उन दोनों को मार डाला तथा 'आज्ञा का पालन हुआ' मानकर निश्चिंत हो वापस लौट गये।

इस प्रकार अकलंक की प्राणरक्षा तो हो गयी, किन्तु आँखों के समक्ष अपने निरपराध लघुभ्राता की निर्मम हत्या ने इनके अन्तस् में बौद्धों को निर्मूल करने की भावना दृढ़ कर दी; साथ ही संसार और शरीर की क्षणभंगुरता के विचार ने इनके संयमित जीवन में वैराग्य का प्रकर्ष जागृत कर दिया। और फिर ये निर्भीक हो जिनानुयायी श्रमणचर्या को अंगीकार भ्रमण करने लगे।

इसी क्रम में एक अन्य कथासूत्र आकर जुड़ता है। कलिंग देश के रत्नसंचयपुर नामक स्थान के-बौद्ध धर्मानुयायी राजा हिमशीतल एवं उनकी जिनधर्मानुयायी रानी मदनसुन्दरी के अन्तर्द्वन्द्व का। रानी मदनसुन्दरी अष्टान्हिका पर्व में जिनेन्द्र रथयात्रा निकलवाना चाहती थी, किन्तु बौद्ध गुरु के भड़काने पर राजा हिमशीतल ने शर्त रख दी कि 'यदि कोई जैन विद्वान् या श्रमण वाद-विवाद में

बौद्ध गुरु को पराजित कर देगा; तभी रथयात्रा की अनुमति दी जा सकती है, अन्यथा नहीं।' अकलंक को जब यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ, तो वे राजा हिमशीतल की सभा में गये एव बौद्ध गुरु से शास्त्रार्थ किया। ऐतिहासिक उल्लेखों के अनुसार छह माह तक शास्त्रार्थ चलता रहा, तथा दोनों पक्ष अजेय बने रहे। बौद्धगुरु पर्दे की ओट में बैठकर शास्त्रार्थ करते थे। जैन देवी 'चक्रेश्वरी' के द्वारा बौद्ध गुरु के अजेय रहने का रहस्य ज्ञात होने पर अकलंक ने अगले दिन बौद्ध गुरु से पूर्वोक्त बातों को दुहराने के लिए कहा। किन्तु पर्दे के पीछे से बौद्ध गुरु की जगह घटावतीर्ण तारा देवी शास्त्रार्थ करती थी, अतः वह पूर्वोक्त बातों को दुहरा नहीं सकी। फलतः अकलंक ने पर्दा फाड़कर पादप्रहार से घट को तोड़कर शास्त्रार्थ में विजयश्री प्राप्त की, एवं भव्य जिनेंद्र रथयात्रा का आयोजन हुआ। इस घटना से अकलंक ने जिनधर्म की व्यापक प्रभावना के **'अकलंक युग'** का सूत्रपात किया। 'राजाबलिकथे' के अनुसार इस शास्त्रार्थ की अवधि सत्रह दिन थी, इसके फलस्वरूप बौद्धों को कलिंग देश छोड़कर सिलोन जाना पड़ा था।

मल्लिषेण-प्रशस्ति के द्वितीय पद्य के अनुसार राष्ट्रकूटवंशी राजा साहसतुंग की सभा में अकलंक ने सम्पूर्ण बौद्ध-विद्वानों को परास्त कर भारत से बौद्धधर्म की पूर्ण विदाई की आधारभूमि निर्मित कर दी थी।

उक्त कथानकों से यह सुस्पष्ट था कि भट्ट अकलंकदेव दिग्विजयी शास्त्रार्थी विद्वान् थे। इसी कारण आचार्य विद्यानन्दि ने अकलंक को **'सकल-तार्किकचक्र-चूड़ामणि'** कहा है।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पूर्वोक्त कथानकों के परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूटवंशी राजा कृष्णराज प्रथम की उपाधि **'शुभतुंग'** थी, शिलालेखों में उत्कीर्ण प्रशस्तियों से इस तथ्य को समर्थन प्राप्त है। इन्हीं शुभतुंग अर्थात् कृष्णराज प्रथम के मन्त्री पुरुषोत्तम के पुत्र के रूप में अकलंक का **'कथाकोष'** में परिचय आया है। तथा ये शुभतुंग **'दन्तिदुर्ग'** के चाचा थे और दन्तिदुर्ग का ही नाम 'साहसतुंग' था; जिसने काञ्ची, केरल, चोल, पाण्ड्य राजाओं तथा राजाहर्ष एवं व्रजट को पराजित करने वाली चालुक्यों (कर्णाटक) की सेना को पराजित किया था। 'भारत के प्राचीन राज्यवंश' नामक पुस्तक में राजा दन्तिदुर्ग की उपाधियों में 'साहसतुंग' उपाधि का स्पष्ट उल्लेख है। और इन्हीं साहसतुंग की सभा में अकलंक द्वारा समस्त बौद्ध विद्वानों का पराजित

करने का उल्लेख 'मल्लिषेण प्रशस्ति' में आया है। इन ऐतिहासिक तथ्यों से 'कथाकोष' एवं 'मल्लिषेण प्रशस्ति' के कथनों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

तार्किकेश्वर दार्शनिकचूड़ामणि आचार्य भट्ट अकलंकदेव के यशोगानों से विभिन्न शिलालेख, प्रशस्तिलेख एवं परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थ भरे पड़े हैं। इससे अकलंक का व्यापक प्रभाव जाना जा सकता है। अकलंकदेव के गरिमामय व्यक्तित्व एवं कृतित्व की इन यशोगीतियों की कतिपय बानगियाँ दृष्टव्य हैं-

श्रवणबेलगोल के अभिलेख संख्या 47 में इन्हें **'साक्षात् षट्दर्शन-बृहस्पति'** कहा गया है-

"षट्तर्केष्वकलंकदेवविबुधः साक्षादयं भूतले।"

एक अन्य अभिलेख में इनके द्वारा समस्त बौद्ध एकान्तवादियों को परास्त किये जाने की चर्चा की गयी है-

"भट्टाकलंकोऽकृत सौगतादि-दुर्वाक्यपङ्कैस्सकलंकभूतम्।
जगत्स्वनामेव विधातुमुच्चैः सार्थं समन्तादकलंकमेव।।"

अभिलेख संख्या 108 में इन्हें 'मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान' बताया है-

"ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलंकसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः।।"

धनञ्जय कवि ने **'नाममाला'** में 'प्रमाण हो, तो अकलंक जैसा' कहा है-

"**प्रमाणमकलंकस्य** पूज्यपादस्य लक्षणम्।"

आचार्य जिनसेन ने 'भट्ट अकलंक के निर्मलगुणों को विद्वानों के हृदय की मणिमाला' कहा है-

"भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः।
विदुषां हृदयारूढाः हारयन्तेऽतिनिर्मलाः।।"

'न्यायकुमुदचन्द्र' में अकलंकदेव को समस्त मतवादियोंरूपी गजराजों के दर्प का उन्मूलन करनेवाला **'स्याद्वादकेसरी पञ्चानन'** कहा गया है-

"इत्थं समस्त-मतवादि-करीन्द्र-दर्पमुन्मूलयन्नमलमानदृढप्रहारैः।
स्याद्वाद-केसर-सटाशत-तीव्रमूर्तिः पञ्चाननो जयत्यकलंकदेवः।।"

वहीं पर एक अन्य पद्य में अकलंकदेव को 'कुतर्करूपी अन्धकार के विनाशक, कुनीतिरूपी नदियों के शोषक (सुखाने वाले), स्याद्वादरूपी किरणों से विश्व को

व्याप्त करने वाले प्रभु' कहा है–

"येनाशेष–कुतर्क–विभ्रमतमो निर्मूलमुन्मीलितम्,
स्फारागाध–कुनीति–सार्थ–सरितो निःशेषत शोषिता: ।
स्याद्‌वादाप्रतिम–प्रभूतकिरणै: व्याप्तं जगत् सर्वत:,
स श्रीमानकलंकभानुरसमो जीयाज्जिनेन्द्र: प्रभु: ।।"

आचार्य वादिराज ने इन्हें 'जगत् द्रव्य को चुरानेवाले शाक्य (बौद्ध) दस्युओं को दण्डित करनेवाले' एवं 'तर्कभूमि के वल्लभदेव' कहकर इनकी स्तुति की है–

"तर्कभू–वल्लभो देव: स जयत्यकलंकधी: ।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिता: शाक्यदस्यव: ।।"

एक अन्य शिलालेख में उन्हें 'महर्धिक' (महान् ऋद्धिधारी) कहा गया है–

"जीयात् समन्तभद्रस्य देवागमनसंज्ञिन: ।
स्तोत्रस्य भाष्यं कृतवानकलंको **महर्धिक:** ।।"

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि आचार्य भट्ट अकलंकदेव बालब्रह्मचारी, निर्ग्रन्थ तपस्वी, महान् तार्किक, प्रकाण्ड दार्शनिक, शास्त्रार्थ–विजेता, श्रेष्ठ कवि, अद्वितीय वाग्मी एवं वाचंयमी थे। विद्वद्वर्य डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इन्हें **'जैनन्याय का पिता'** स्वीकार किया है।

कालनिर्णय:– चूंकि आचार्य अकलंकदेव पर दशाब्दियों से विद्वानों ने प्रभूत कार्य किया है तथा उनके कालनिर्णय के बारे में अन्त:साक्ष्यों एवं बहि:साक्ष्यों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है। **प्रथम मान्यता** के अनुसार आचार्य भट्ट अकलंकदेव का समय **सन् 620-680 ई०** माना गया है, जबकि **दूसरी अवधारणा** के अनुसार इनका समय **सन् 720-780 ई०** निश्चित होता है। इस तरह दोनों मान्यताओं में लगभग एक सौ वर्षों का अन्तर है। दोनों के पक्ष को सामने रखकर ही हम निर्णय कर सकते हैं कि इनका प्रामाणिक काल कौन–सा है।

चूंकि 'अकलंकचरित' नामक ग्रन्थ में अकलंकदेव के काल विषयक एक पद्य प्राप्त होता है–

"विक्रमार्कशकाब्दीय–शतसप्त प्रमाजुषि ।
काले अकलंकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ।।"

अर्थात् सात सौ विक्रमार्क शक वर्ष (संवत्) प्रमाण काल में अकलंकदेव का

बौद्धों के साथ महान् 'वाद' हुआ था।

उक्त पद्य में 'सात सौ' संख्या तो स्पष्ट है, किन्तु 'विक्रमार्क' एवं 'शकाब्दीय' इन दो पदों ने भ्रमात्मक स्थिति पैदा कर रखी है। क्योंकि यदि 'विक्रमसंवत्' अर्थ यहाँ ग्रहण करते हैं, तो विक्रमसंवत् 700 अर्थात् सन् 643 ई० में उक्त वाद-घटना मानी जायेगी; तथा यदि 'शकसंवत्' अर्थ लिया जाता है, तो शकसंवत् 700 अर्थात् सन् 778 ई० की यह घटना सिद्ध होती है। बस इसी विक्रमसंवत् तथा शकसंवत् वाले मतान्तर ने विद्वानों को अकलंक के कालनिर्णय के बारे में दो वर्गों में खड़ा कर दिया है। और फिर दोनों वर्गों के विद्वानों ने अपने-अपने मत के समर्थन में अन्य प्रमाण भी एकत्रित किये हैं। उन पर दृष्टिपात करना अपेक्षित है।

प्रथम मान्यता (620-680 ई०) के विद्वानों के अनुसार **धनञ्जयकवि** ने अपनी **नाममाला** में अकलंकदेव के प्रमाण-वैशिष्ट्य का उल्लेख किया है, तथा **वीरसेन स्वामी** (ई० 816) ने **'धवला'** ग्रन्थ में 'इति' शब्द का अर्थ बतलाने के लिए धनञ्जयकवि की 'अनेकार्थनाममाला' की 39वाँ पद्य उद्धृत किया है। अतः **वीरसेन से पूर्ववर्ती** धनञ्जय हैं तथा धनञ्जय से **पूर्ववर्ती** अकलंकदेव सिद्ध हुए।— इस प्रकार युक्तिपूर्वक भट्ट अकलंकदेव का काल सातवीं शताब्दी (620-680 ई०) विद्वानों ने निर्णीत किया है। इस मान्यता के प्रवर्तक एवं समर्थक विद्वानों में डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० श्रीकण्ठ शास्त्री, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार एवं डॉ० ए०एन० उपाध्ये प्रभृति विद्वान् प्रमुख है।

द्वितीय मान्यता (720-780 ई०) के विद्वानों के अनुसार जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है— **पूर्ववर्ती समयसीमावाले** प्रमाण, समकालीन व्यक्ति एवं परवर्ती समय-सीमा-निर्धारक प्रमाण।

पूर्ववर्ती प्रमाण में शिलालेखों में भट्ट अकलंकदेव का स्मरण आचार्य सुमति के बाद किया गया है। डॉ० भट्टाचार्य ने आचार्य सुमति का समय लगभग 720 माना है। तथा पं० दलसुखभाई मालवणिया प्रभृति विद्वानों ने आचार्य सुमति की उत्तर सीमा 750 ई० से 762 ई० तक मानी है। अतः इनके बाद ही अकलंकदेव का उल्लेख होने से अकलंकदेव का समय आठवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध होना चाहिए। इसके अतिरिक्त आचार्य अकलंकदेव के ग्रन्थों में भर्तृहरि (5वीं शता०ई०), कुमारिल भट्ट (सातवीं शता० का पूर्वार्द्ध), धर्मकीर्ति (ई० 620 से 690 ई०), जयराशि भट्ट (सातवीं शता०ई०), प्रज्ञाकर गुप्त (ई० 660-720 तक)

धर्माकरदत्त 'अर्चट' (ई० 680-720 तक), शान्तिभद्र (ई० 700), धर्मोत्तर (ई० 700), कर्णगोमि (आठवीं शता०ई०) एवं शान्तिरक्षित (ई० 705-762 ई० तक) आदि के ग्रन्थों का प्रभाव, उल्लेख आदि प्रमाणित होने से अकलंकदेव का इनके परवर्ती होना सुनिश्चित है।

समकालीन उल्लेखों में अकलंक को मान्यखेट के राजा शुभतुंग (मूलनाम कृष्णराज प्रथम) के मन्त्री पुरुषोत्तम का पुत्र बताया गया है। कृष्णराज प्रथम का शासनकाल 756 ई० से 775 ई० तक रहा है। एक अन्य उल्लेख में राष्ट्र-कूटवंशीय राजा साहसतुंग (मूलनाम दन्तिदुर्ग) की सभा में समस्त बौद्ध-वादियों को 'वाद' में अकलंकदेव के द्वारा पराजित किये जाने का वर्णन है। दन्तिदुर्ग का राज्यकाल 745 ई० से 755 ई० है। अत: स्पष्ट है कि **ई० 745 से 775 ई० तक अकलंकदेव अवश्य विद्यमान थे।**

परवर्ती प्रमाणों में आचार्य विद्यानन्दि (ई० 775-840 ई०) के द्वारा अकलंक कृत 'अष्टशती' पर 'अष्टसहस्री' टीका की रचना एवं धनञ्जय कवि (810 ई०,) धवलाकार वीरसेन स्वामी (816 ई०) एवं आदिपुराणकर्त्ता आचार्य जिनसेन (ई० 760-813 ई०) द्वारा अकलंकदेव या उनके साहित्य को उद्धृत/स्मृत किया जाना यह सिद्ध करता है कि इनके पूर्व अर्थात् ई० 775 तक अकलंकदेव का साहित्य एवं कीर्ति निर्मित हो चुकी थी। अत: अकलंक को इससे परवर्ती कदापि नहीं माना जा सकता है।

उक्त समस्त पूर्वावधि-समावधि एवं उत्तरावधि प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने अकलंकदेव की समय सीमा ई० 720-780 ई० निर्धारित की है। इस मान्यता के प्रमुख प्रवर्तक/समर्थक विद्वान् हैं– डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, डॉ० के०बी० पाठक, डॉ० जी०आर० भण्डारकर, डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एवं पं० नाथूराम प्रेमी आदि।

समीक्षा:– चूंकि विवाद का मूल मुद्दा '**विक्रमार्कशकाब्दीय:**' यह पद है। इसमें 'विक्रम' का उल्लेख भी है और 'शक' का भी, किन्तु 'संवत्' या 'वर्ष' सूचक शब्द '**अब्द**' का प्रयोग 'शक' शब्द के साथ है; अत: 'शक संवत्' अर्थ लिया जाना ही संगत है। रही बात 'विक्रमार्क' पद की सार्थकता की, तो यह पद विशेषण के रूप में आया है, अत: 'विक्रम-पराक्रम में अर्क-सूर्य के समान शकराज का संवत्'– यह अर्थ ही उचित प्रतीत होता है। अत: यहाँ 'विक्रम संवत्' अर्थ लेने

की मान्यता मूल से प्रमाणित नहीं है तथा अन्य अन्त:साक्ष्य एवं बहि: साक्ष्य भी इसका विरोध करते हैं, **अत: अकलंकदेव को ईसा की आठवीं शताब्दी (720-730 ई०)** का विद्वान् दार्शनिक मानना ही युक्तिसंग है।

रचनायें:– आचार्य भट्ट अकलंकदेव के साहित्य को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है– स्वतन्त्र ग्रन्थ और टीका साहित्य। उनके द्वारा विरचित **स्वतन्त्र ग्रन्थ** हैं– 1. लघीयस्त्रय सवृत्ति, 2. न्यायविनिश्चय सवृत्ति, 3. सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति, 4. प्रमाणसंग्रह सवृति एवं 5. स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशति:। **टीका–साहित्य** में 1. सभाष्य तत्त्वार्थवार्तिक एवं 2. अष्टशती (देवागमविवृत्ति) प्रमुख हैं। प्रथमत: अल्प संख्या में होने से एवं बृहदकार, गंभीर होने से टीका-ग्रन्थों का परिचय दिया जा रहा है, स्वतन्त्र ग्रन्थों का इनके बाद क्रम-प्राप्त होगा।

***टीकाग्रन्थ:*– 1. सभाष्य तत्त्वार्थवार्तिक**:– आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के कालजयी ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' अपरनाम 'मोक्षशास्त्र' पर यह व्याख्यापरक ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र के 355 सूत्रों में से सरलतम 27 सूत्रों को छोड़कर शेष 328 सूत्रों पर गद्य वार्तिकों की रचना की गयी है, जिनकी समग्र संख्या दो हजार छह सौ सत्तर (2670) है। इसमें आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि विरचित **सर्वार्थसिद्धि** टीका को आधार बनाकर सूत्रकार के सूत्रों पर संभावित आशंकाओं का निराकरण कर ग्रन्थकार के सूत्रों का मर्म–उद्घाटन किया गया है। इन वार्तिकों पर स्वोपज्ञ भाष्य भी है। यह वार्तिक शैली पर लिखा गया प्रथम भाष्य ग्रन्थ है। अकलंकदेव-विरचित साहित्य में यह सबसे विस्तृत है। लगभग सोलह हजार श्लोकों जितने विस्तारवाले इस ग्रन्थ के प्रथम और चतुर्थ अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें मोक्ष और जीव–सम्बन्धी विभिन्न विचारों का परीक्षण प्राप्त होता है। अकलंक के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इसकी भाषा अत्यन्त सरल है। इसमें अकलंकदेव की विशिष्ट प्रज्ञा के दर्शन होते हैं। विशेषत: अनेकों जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों के प्रभूत उद्धरणों से इसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है। व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र – तीनों के प्रगाढ़ पाण्डित्य के दर्शन इस ग्रन्थ में होते हैं। ग्रन्थ की पुष्पिकाओं में इसे 'तत्त्वार्थवार्तिकव्याख्यानालंकार' संज्ञा दी गयी है। विद्वानों ने इसे उनकी प्रथम रचना अनुमानित किया है।

2. अष्टशती:– जैनदर्शन में आचार्य समन्तभद्र विरचित 'आप्तमीमांसा' अपरनाम 'देवागमस्तोत्र' का विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान है। इसी ग्रन्थ की 800

श्लोकप्रमाण आकार में रचित 'वृत्ति' होने से इसकी 'अष्टशती' संज्ञा सार्थक है। इसमें अनेकान्त और सप्तभंगी सिद्धान्तों का विशद विवेचन हुआ है। इसमें मूलग्रन्थ में आगत एकान्तवादियों के खण्डनों के पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर उन वर्णनों को सुस्पष्ट कर दिया गया है। अन्त में प्रमाण और नय की चर्चा भी इसमें अकलंकदेव ने की है। इसी 'अष्टशती' के आधार पर आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने आठ हजार श्लोकप्रमाण 'अष्टसहस्री' नामक गूढ़-गम्भीर टीका लिखी है, जिसके बारे में कहा गया है–

"श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।"

स्वतन्त्र ग्रन्थः– 1. **लघीयस्त्रय सविवृत्ति**-यह प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश एवं निक्षेपप्रवेश नामक तीन छोटे-छोटे प्रकरणों का संग्रह है। इसके 'निक्षेपप्रवेश' नामक प्रकरण को 'प्रवचनप्रवेश' संज्ञा भी दी जाती है। इसमें कुल 78 (अठहत्तर) कारिकायें हैं, किन्तु मुद्रित लघीयस्त्रय मात्र 77 (सतहत्तर) ही कारिकायें हैं। 35वीं (लक्षणं क्षणिकैकान्ते...) कारिका इसमें नहीं है। इसमें प्रथम 'प्रमाणप्रवेश' में 1. प्रत्यक्ष परिच्छेद, 2. विषय परिच्छेद, 3. परोक्ष परिच्छेद और 4. आगम परिच्छेद–ये चार परिच्छेद हैं; शेष 'नय प्रवेश' एवं 'प्रवचन प्रवेश' को 'परिच्छेद' संज्ञा देकर इसके छह परिच्छेद भी कहे गये हैं। इस पर अकलंकदेव ने संक्षिप्त विवृत्ति भी लिखी है। यह विवृत्ति कारिकाओं की व्याख्यापरक न होकर सूचित विषयों की पूरक है। तथा यह मूलश्लोकों के साथ ही साथ लिखी गयी है। धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' की वृत्ति भी इसीप्रकार की है। विद्वानों ने इसे अकलंकदेव की पहली मौलिक दार्शनिक रचना माना है।

2. ***न्यायविनिश्चय सवृत्तिः***– 'विनिश्चय' पद के अन्त्य प्रयोगवाले ग्रन्थ अकलंकदेव से पहले भी लिखे जाते रहे हैं। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति का 'प्रमाण विनिश्चय' नामक ग्रन्थ तो उपलब्ध ही है, जबकि 'तिलोयपण्णत्ति' में 'लोकविनिश्चय' नामक ग्रन्थ की सूचना प्राप्त होती है। इसी परम्परा में अकलंकदेव ने 480 कारिकाओं वाले इस ग्रन्थ की रचना की है।

इस ग्रन्थ में कुल तीन प्रस्ताव है। 'प्रत्यक्ष प्रस्ताव' नामक प्रथम प्रस्ताव में 169 1/2 कारिकाओं द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है तथा इस विषय में अन्यमतावलम्बियों की प्रत्यक्ष-विषयक मान्यताओं की तार्किक समीक्षा भी की गयी है। द्वितीय 'अनुमान प्रस्ताव में 216 1/2 कारिकायें

हैं, जिनमें अनुमान का लक्षण, भेद एवं उसके अंगों आदि के विषय में सविस्तार अतिमहत्त्वपूर्ण विवेचन प्राप्त होता है।

तृतीय 'प्रवचन प्रस्ताव' में 94 कारिकाओं द्वारा आगम, आप्त एवं सप्तभंगी आदि विषयों की विस्तृत विवेचना की गयी है।

इस पर अकलंकदेव ने विषय-विशेष की सूचनारूप 'वृत्ति' लिखी है, टीकारूप नहीं। कारिकाओं के साथ गद्य में उत्थानिका-वाक्य भी दिये गये हैं। कारिकायें और वृत्ति;दोनों प्रौढ़ एवं गम्भीर भाषा-शैली में निबद्ध है।

इस ग्रन्थ पर आचार्य वादिराज (शक संवत् 947 सन् 1025 ई०) ने विस्तृत विवरणात्मक टीका लिखी है, जो कि 'न्यायविनिश्चय-विवरण' के नाम से दो भागों में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित भी है।

3. *प्रमाण संग्रह:*– प्रमाणों एवं युक्तियों के संग्रहस्वरूप यह ग्रन्थ भाषा एवं विषय दोनों की दृष्टि से 'लघीयस्त्रय' एवं 'न्याय विनिश्चय' से जटिल है। अत: विद्वानों ने इसे उक्त दोनों ग्रन्थों के बाद में निर्मित माना है। उनके अनुसार 'इस ग्रन्थ में अकलंकदेव ने अपने अवशिष्ट विचारों को प्रस्तुत किया है।'

इस ग्रन्थ में कुल 9 प्रस्ताव एवं 87 ½ कारिकायें हैं। प्रथम प्रस्ताव में 9 कारिकाओं द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण-विषयक सामग्री वर्णित है। द्वितीय प्रस्ताव में भी 9 कारिकायें हैं, जो परोक्षप्रमाण-सम्बन्धी विशेष चर्चा प्रस्तुत करती है। तृतीय प्रस्ताव में अनुमान, अनुमानांगों एवं सामान्यविशेषात्मक वस्तु का 10 कारिकाओं में वर्णन है। चतुर्थ प्रस्ताव में विविधमतों की समीक्षापूर्वक 'हेतु' की सविशेष चर्चा प्रस्तुत 11½ कारिकाओं में की गयी है। पञ्चम प्रस्ताव में 10½ कारिकाओं में हेत्वाभास विषयक प्ररूपण किया गया है। षष्ठ प्रस्ताव में 12½ कारिकाओं द्वारा वाद का लक्षण एवं विभिन्नवादों की समीक्षा की गयी है। सप्तम प्रस्ताव में 10 कारिकाओं में प्रवचन का लक्षण एवं आगम की अपौरुषेयता का खण्डन आदि विषय वर्णित है। अष्टम प्रस्ताव में 13 कारिकाओं द्वारा नैगम आदि सप्तनयों का वर्णन है तथा अन्तिम नवम प्रस्ताव में 2 कारिकाओं द्वारा प्रमाण-नय-निक्षेप का उपसंहार किया गया है।

इस ग्रंथ की 87½ कारिकाओं पर अकलंकदेव ने पूरक वृत्ति भी लिखी है और इसप्रकार गद्य-पद्यमयी यह ग्रंथ 'अष्टशती' के बराबर आकार का हो जाता है। इस ग्रन्थ पर आचार्य अनन्तवीर्य ने 'प्रमाणसंग्रहालंकार' नामक अपनी टीका का

उल्लेख किया है, जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। 'प्रमाणसंग्रह' नामक यह कृति 'अकलंक-ग्रन्थत्रय' में प्रकाशित है।

4. ***सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति:***— अकलंकदेव की इस महत्त्वपूर्ण रचना में 12 प्रस्ताव हैं। जिनमें प्रमाण, नय एवं निक्षेप विषयक विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रथम 'प्रत्यक्षसिद्धि' नामक प्रस्ताव में प्रमाण, प्रमाणफल के प्ररूपणपूर्वक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के निर्विकल्पत्व का खंडन किया गया है। 'सविकल्पसिद्धि' नामक द्वितीय प्रस्ताव में अवग्रह आदि ज्ञानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। 'प्रमाणान्तर सिद्धि' नामक तृतीय प्रस्ताव में परोक्षप्रमाणान्तर्भूत स्मृति-प्रत्यभिज्ञान आदि की प्रामाणिकता का निरूपण किया गया है। चतुर्थ प्रस्ताव का नाम 'जीवसिद्धि' है; इसमें तत्त्वोपप्लववाद, भूतचैतन्यवाद आदि दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा की गयी है। 'जल्पसिद्धि' नामक पाँचवें प्रस्ताव में जल्प, निग्रहस्थान एवं जयपराजय-व्यवस्था आदि का वर्णन है। छठवें प्रस्ताव का नाम 'हेतुलक्षणसिद्धि' है, इसमें हेतु का अन्यथानुपपत्तिवैकलक्षण की सिद्धिपूर्वक हेतुओं के भेद, कारण आदि का भी कथन आया है। सप्तमप्रस्ताव 'शास्त्रसिद्धि' है, जिसमें श्रुत का मोक्ष-मार्गसाधकत्व, शब्द का अर्थवाचकत्व एवं वेदों की अपौरुषेयता की समालोचना की गई है। अष्टम 'सर्वज्ञसिद्धि प्रस्ताव' में सर्वज्ञ की सिद्धि की गयी है। 'शब्दसिद्धि' नामक नौवें प्रस्ताव में शब्द का पौद्गलिकत्व सिद्ध किया गया है। 'अर्थनयसिद्धि' नामक दसवें प्रस्ताव में नैगम-संग्रह-व्यवहार एवं ऋजुसूत्र—इन चार अर्थनयों एवं इनके नयाभासों का वर्णन आया है। ग्यारहवें प्रस्ताव का नाम 'शब्दनय सिद्धि' है; इसमें शब्द का स्वरूप, स्फोटवाद एवं शब्द—नित्यता के खंडनपूर्वक शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत—इन तीन नयों का वर्णन है। बारहवें 'निक्षेपसिद्धि' नामक प्रस्ताव में निक्षेप का लक्षण, भेद–उपभेद आदि के स्वरूप एवं उनकी सम्भावनाओं पर विचार किया गया है।

डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने इन बारह प्रस्तावों को (1) प्रमाणमीमांसा (2) प्रमेयमीमांसा, (3) नयमीमांसा एवं (4) निक्षेपमीमांसा – इन चार विभागों में वर्गीकृत किया है।

उक्त संक्षिप्त विवरण से भी इस ग्रन्थ की महनीयता का स्पष्ट आभास हो जाता है। यहाँ तक वर्णित अकलंक-साहित्य सुनिर्णीत एवं प्रकाशित है, किन्तु 'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशति' नामक रचना मूलमात्र प्रकाशित होते हुए भी

वैज्ञानिक सम्पादन के न होने से तथा इसके कर्ता आदि के विषय में भी अनेकों भ्रान्तियाँ प्रचलित होने से अपने आप में अप्रकाशितवत् बनी हुई है। यद्यपि यह अन्य अकलंक-साहित्य की भाँति अति अगाध एवं विस्तृत तो नहीं है, तथापि 'समुद्र की बूँद भी समुद्र का अंश होने उसका परिचय एवं वैशिष्ट्य समुद्र से भिन्न नहीं हो सकता;' इसीप्रकार आकार में छोटी होते हुए भी 'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशति' नामक यह कृति अकलंकदेव की लेखनी से प्रसूत होने से पर्याप्त गौरव रखती है। इसका विशद परिचय निम्नानुसार प्रस्तुत है-

ग्रन्थ-परिचय:— भारतीय-परम्परा में ग्रन्थ के परिमाण के आधार पर ग्रन्थों का नामकरण करने की एक शैली रही है; जैसे—अमृताशीति (अशीति=अस्सी) सम्बोधनसप्तति: (सप्तति=सत्तर), महावीराष्टक (अष्टक=आठ पद्यों का समूह), गाथासप्तशती (सप्तशती=सात सौ पद्यों का समूह) एवं पद्मनंदिपंचविंशति: (पंचविंशति=पच्चीस) आदि। इसी परम्परा में रचित ग्रन्थ है 'स्वरूपसम्बोधन पञ्चविंशति:'।

ग्रन्थ के परिमाण को ग्रन्थ के नामकरण में सूचित कर देने का एक विशेष लाभ यह होता था कि उस ग्रन्थ में बाद में कोई न तो कुछ जोड़ सकता था और न ही घटा सकता था। साथ ही यदि कालप्रभाव आदि कारणों से प्रति अपूर्ण प्राप्त होती है, तो भी उसके परिमाणसूचक नाम से उसके आकार आदि का ज्ञान करने में सुविधा रहती है।

यद्यपि परिमाणपरक नाम वाले ग्रन्थों में ग्रन्थ का परिमाण उसके नामकरण में दिये गये संख्यावाची शब्द से स्पष्ट हो जाता है; तथापि यह आवश्यक नहीं है कि ग्रन्थकार ठीक उतने ही पद्यों की रचना करे, जो संख्या उसने नामकरण में निर्दिष्ट की है। प्राय: मंगलाचरण या उपसंहार के पद्यों को ग्रन्थकार मूलग्रन्थ से बाहर मान लेता था, अत: एक या दो पद्य अधिक भी मिल जाते हैं। अब कोई हठग्राही प्रतिलिपिकार नामकरण में दी गयी संख्या की सत्यता सिद्ध करने के लिए ऐसे पद्यों को कम कर देते थे, जिससे ग्रन्थ का प्रास्तविक एवं समापन गायब हो जाता था। तो कोई-कोई लिपिकार ग्रंथ के बीच में से एकाध पद्य कम कर संख्या-सन्तुलन बना देते थे। ऐसी स्थिति में ग्रन्थ का प्रारम्भ एवं अन्त तो वही रहता, किन्तु बीच में से विषयप्ररूपक कोई पद्य निकल जाने से ग्रन्थ की स्वरूप-हानि होती थी। प्रस्तुत 'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशति' ग्रन्थ के साथ भी

ऐसा ही हुआ है। 'आरा' प्रति के प्रतिलिपिकार ने इसका आदि एवं अन्त का पद्य यथावत् रखा, किन्तु बीच में से निम्नलिखित एक पद्य छोड़ दिया–

"तथाप्यतितृष्णावान्, हन्त मा भूस्त्वात्मनि।
यावत्तृष्णाप्रभूतिस्ते, तावन्मोक्षं न यास्यसि।।20।।"

चूंकि उपलब्ध हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में 'आरा' की प्रति सबसे बाद में लिखी गई है। यद्यपि उसमें रचनासंवत् का कोई उल्लेख या लिपिकार की पुष्पिका नहीं है, तथापि आधुनिक देवनागरी लिपि के अक्षरों का प्रयोग होने से एवं कागज पर लिखी गयी इस प्रति की अवस्था को देखते हुए यह प्रति एक सौ वर्ष से अधिक प्राचीन प्रतीत नहीं होती है। चूंकि यह कागज पर लिखी गयी, सुवाच्य एवं सहज उपलब्ध[1] होने से आज के विद्वानों ने संभवत: इसी प्रति को आधार बनाया एवं इसी के आधार पर इस ग्रन्थ के मूलपाठ का अपनी समझ के अनुसार अनुवाद कर प्रकाशित कर दिया। अत: सभी प्रकाशित प्रतियों में उपर्युक्त पद्य छूटा हुआ है, तथा पद्यों की संख्या का परिसीमन 'पंचविंशति' के अनुसार पच्चीस बना हुआ है। जब कि मूल ग्रन्थ में छब्बीस पद्य हैं तथा छब्बीसवाँ पद्य प्रशस्तिरूप है। देखें– **"इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयम्, य एतदाख्याति शृणोति चादरात्।**
करोति तस्मै परमात्मसम्पदम्, स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशति:।।"

ग्रन्थकार ने इसे प्रशस्तिपद्यरूप में संकेतित करने के लिए ही इसे **'उपेन्द्रवज्रा'** छन्द में लिखा है, जबकि ग्रन्थ के शेष सभी पद्य **'अनुष्टुप्'** छन्द में निबद्ध है।

चूंकि आधुनिक सम्पादकों में डॉ० ए०एन० उपाध्ये एवं डॉ० हीरालाल जैन आदि विद्वानों जैसी कर्तव्यनिष्ठा, समर्पण भावना एवं सम्पादन के मूलभूत सिद्धान्तों के अपेक्षित ज्ञान के साथ-साथ उनका अनुपालन करने का धैर्य नहीं रह गया है; अत: 'कम से कम समय में अधिक से अधिक ग्रन्थ अपने नाम से छप जायें'–इस प्रवृत्ति के कारण ग्रन्थों का मूलस्वरूप विकृत होने लगा है। इसका प्रमाण है कि 'आरा प्रति' में जितनी त्रुटियाँ थीं, आज की प्रकाशित प्रतियों में प्रत्येक प्रति में कुछ न कुछ त्रुटियाँ बढ़ी ही हैं।

अस्तु, इस ग्रन्थ का नाम 'पञ्चविंशति' (पच्चीस पद्योंवाला ग्रन्थ) पदान्त है तथा यह मूल पच्चीस पद्यों एवं एक प्रशस्तिपद्य को मिलाकर कुल छब्बीस पद्यों का ग्रन्थ है।

---

[1] आरा ग्रन्थभण्डार के प्रबन्धकों का व्यवहार अत्यन्त सहयोगीवृत्ति का है।

'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः' की भाषा भट्ट अकलंकदेव के अन्य ग्रन्थों की ही भांति परिशुद्ध एवं अर्थगाम्भीर्ययुक्त संस्कृत भाषा है, तथा पद्यबद्ध रचना होने पर भी पादपूर्ति जैसे प्रयोगों का नितान्त अभाव है। प्रत्येक पद अपनी जगह मणि की तरह जड़ा हुआ है, उसमें फेरबदल कदापि संभव नहीं है। न्यायनिष्णात व्यक्तित्व द्वारा रचित होने से प्रत्येक अक्षर एवं मात्रा भी अपने औचित्य एवं महत्त्व को युक्तिपूर्वक सिद्ध करती है। न्यायगर्भित होते हुए भी अध्यात्मतत्त्व की प्रधानता के कारण शैली की दृष्टि से सरलता एवं सुबोधगम्यता अतीव स्वाभाविकरूप से इस ग्रन्थ में समायी हुई है। किन्तु कई मत-मतान्तर, जो कि ग्रन्थकार के लिए प्रत्यक्षवत् थे, पाठकों के लिए कदाचित् अपरिचित होने से उन स्थलों पर ग्रन्थकर्ता के अभिप्राय के अनुसार विषय के स्पष्ट होने में बाधक हो सकते हैं; तथापि सम्पूर्ण कथन अस्तिपरक होने (Positive) होने से उनकी उपेक्षा करके भी विषय को मूलरूप में समझा जा सकता है। किन्तु ऐसा करने पर मात्र शब्दार्थ की सिद्धि होगी; नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ सुस्पष्ट नहीं हो सकेंगे। अतः उनके उन अभिप्रायों को भी हमें मूलग्रन्थ पढ़ते समय समझना होगा, जो अकलंक जैसे तार्किकशिरोमणि की दृष्टि में रहे होंगे। साथ ही यह ध्यान रखना होगा कि यह ग्रन्थ अध्यात्मतत्त्वप्रधान है, न्यायदृष्टिप्रमुख नहीं। अतः न्यायविषयक प्रसंगों का ज्ञान विषय–वैशद्य (स्पष्टीकरण) के लिए तो आवश्यक होगा, किंतु तर्कप्रयोग या पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष शैली के लिए संभवतः बहुत प्रासंगिक नहीं रहेगा।

प्रतिपाद्य विषयों की विशेषता एवं सन्दर्भों के ज्ञान के पूर्व प्रस्तुत ग्रन्थ की व्यापक प्रभावोत्पादकता के विषय में तथ्यगत जानकारी संभवतः यहाँ प्रकरणसंगत रहेगी।

अन्य ग्रन्थों में प्राप्त '(स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशतिः)' के उद्धरण–

(1) आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेवकृत नियमसार गाथा 159, शुद्धोपयोग अधिकार की टीका में (पृ० 320 पर) प्रस्तुत ग्रन्थ का निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है–

"यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथञ्चित्प्रमितेर्पृथक्" ।। 12 ।।

उन्होंने ही वहीं गाथा 162, शुद्धोपयोग अधिकार की टीका में (पृ० 329 पर) इसी ग्रन्थ एक अन्य पद्य उद्धृत किया है–

''ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथञ्चन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्तितः।। 4।।

(2) 'सप्तभङ्गीतरंगिणी' में पृष्ठ 79 पर 'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः' ग्रन्थ का निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया गया है :–

''प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः।। 4।।

स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशतिः की टीकायें एवं उनके टीकाकारः– इस ग्रन्थ की दो टीकायें इस प्रति में प्रकाशित हो रही हैं। इनमें प्रथम टीका कन्नड़ टीका है, जिसके कर्त्ता 'महासेन पंडितदेव' हैं। इनके बारे में जो परिचय उपलब्ध हुआ, वह संक्षेपतः निम्नानुसार प्रस्तुत है–

कन्नड़ टीका एवं उसके टीकाकारः– इस टीका का नाम टीकाकार ने 'कर्णाटकवृत्ति' दिया है। यह पदव्याख्या शैली की टीका है, जिसमें सरल कन्नड़ भाषा में प्रत्येक पद के अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। इस टीका में प्रत्येक पद्य की जो उत्थानिका दी गयी है, वह विशेषतः उल्लेखनीय है। इन उत्थानिकाओं में 'मतार्थ' को प्रधानता प्रदान की गयी है। ग्रन्थकार ने पद्य में जिन शब्दों का प्रयोग किया है, उनके पीछे किस-किस मान्यता के निषेध का उद्देश्य है – यह बात उत्थानिकाओं में भली भाँति स्पष्ट हुई है। एक तरह से उत्थानिकायें 'पूर्वपक्ष' का संकेतमात्र करती हैं तथा पद्य एवं टीका में 'उत्तरपक्ष' के प्रभावी प्रस्तुति हुई है। किन्तु ऐसा पूरे ग्रन्थ में नहीं हुआ है, मात्र तेरहवें पद्य (दर्शन-ज्ञान-पर्यायेषूत्तरोत्तरभाविषु...) तक ही उत्थानिकाओं में अन्य मतों का उल्लेख पूर्वपक्ष के रूप में है; इसके बाद तो आत्मस्वरूप-प्राप्ति के साधनों की ही विशेष चर्चा है। दूसरे शब्दों में कहें तो ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है, पूर्वार्द्ध भाग में आत्मा के स्वरूपविषयक चर्चा है, यह चर्चा वस्तुगत-विवेचनरूप होने से इसमें आत्मा के स्वरूप के विषय में अन्य मतावलम्बियों की मान्यताओं से प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपाद्य आत्म-स्वरूप के साथ मतभेदों का उल्लेख पूर्वपक्ष के रूप में टीकाकार ने संकेतित किया है। जबकि ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध उस पूर्वार्द्ध-प्रतिपादित आत्मस्वरूप की प्राप्ति के उपायों की चर्चा करता है, उसमें अन्य मतावलम्बियों के मतभेदों की चर्चा नहीं है।

अन्य मतों के खण्डन में सर्वाधिक यौग-सौगत (बौद्ध) की मान्यता का

उल्लेख आया है; कुल सात पद्यों (पद्य क्र. 3, 5, 6, 8, 9, 13 एवं 25) में इनका खण्डन है, जबकि चार्वाक (पद्य क्र. 2), वैशेषिक (पद्य क्र. 4) ब्रह्माद्वैतवादी (पद्य क्र. 6, 8), सांख्य एवं मीमांसक (पद्य क्र. 9 की टीका में) का अपेक्षाकृत कम उल्लेख हुआ है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि मूलग्रन्थकर्त्ता भट्ट अकलंकदेव के समय बौद्धों का प्रचण्ड प्रभाव था तथा उनके निजी जीवन में भी बौद्धों के साथ कटु अनुभव (भाई की हत्या आदि) एवं घोर संघर्ष (सर्वाधिक वाद-विवाद बौद्धों से ही हुआ) रहा था; अत: बौद्धों की मान्यताओं का अधिक प्रखरता के साथ उनके द्वारा खण्डन किया जाना स्वाभाविक था। किन्तु मूलग्रन्थ में इन अन्य मतावलम्बियों का उल्लेख नहीं है, उसमें तो मात्र आत्मस्वरूप, उसकी प्राप्ति के उपाय एवं आत्मभावना की ही चर्चा है; तथापि टीकाकार महासेन पंडितदेव ने उत्थानिकाओं एवं टीका में इनके मतों का नामोल्लेख कर पाठकों को मतार्थ भी सूचित किया है।

यद्यपि टीका में मूलग्रंथ के प्रत्येक पद का अर्थ देने की ही शैली रखी गयी है, टीकाकार ने अपनी ओर से उसमें बहुत कम स्थलों पर कथन किया है। तथा जहाँ किया है, वह आधार का उल्लेख करते हुए किया है। जैसे कि पद्य क्र. 21वें (मोक्षेऽपि यस्य...) में 'मोक्षेऽपि' पद की टीका करते हुए टीकाकार महासेन पंडितदेव लिखते हैं– 'संसार-कारणाभावेषु स: स्वात्मलाभो मोक्ष:' – एम्बुदरिं हेळल्पट्टवप्प मोक्षदोळादोडं (अर्थ– 'संसार के कारणों का अभाव होने पर वह अपनी आत्मा का लाभ-प्राप्ति ही मोक्ष है – इस प्रकार के वचनों से स्पष्ट होने वाले मोक्ष में भी)–यहाँ पर मोक्ष की परिभाषा 'संसार-कारणाभावेषु स: स्वात्मलाभो मोक्ष:' किसी प्रसिद्ध आचार्य के ग्रंथ से उद्धृत प्रतीत होती है। उसे ही यहाँ ग्रंथ या ग्रंथकर्त्ता के नामोल्लेख के बिना ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है।

प्रस्तुत कन्नड़ टीका की शैली सबसे प्रमुख आकर्षण का बिन्दु है। प्रत्येक पद के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने छोटे-छोटे प्रति प्रश्न उठाकर न केवल रोचकता का समावेश किया है, अपितु विषय को भी सरल बनाया है। आचार्य अमृतचन्द्रकृत 'आत्मख्याति' (समयसार की टीका) में आगत पद्यों के हिन्दी टीकाकार पांडे राजमल्ल (15-16वीं शता० ई०) की 'समयसारकलश टीका' में भी यह प्रतिप्रश्न–शैली बहुत प्रभावी सिद्ध हुई है। शैलीगत तुलना के लिए देखें–

समयसार कलश टीका:– (आत्मा) चेतना लक्षण जीव (व्यक्तः) स्वस्वभावरूप (आस्ते) होता है। **कैसा होता है?** (नित्यं) त्रिकालगोचर (कर्म) अशुद्धतारूप (कलंकपंक) कलुषता-कीचड़ से (विमलः) सर्वथा भिन्न होता है। **और कैसा है?** (ध्रुवं) चारों गति में भ्रमता हुआ रह गया है। **और कैसा है?** (देवः) पूज्य है। **और कैसा है?** (स्वयं शाश्वतः) द्रव्यरूप ही विद्यमान है। **और कैसा होता है?** (आत्मा) चेतनवस्तु के (अनुभव) प्रत्यक्ष-आस्वाद के द्वारा (एक) अद्वितीय (गम्य) गोचर है (महिमा) बड़ाई जिसकी, ऐसा है।

–(समयसार, कलश 12 की टीका)

स्वरूपसंबोधन पंचविंशतिः (कन्नड़ टीका):– (वक्तव्यः) कहा जाता है **(कः) कौन?** (सः) वह आत्मा **(कैः) किससे?** (स्वरूपाद्यैः) स्वरूपादि चतुष्टयों से (निर्वाच्यः) नहीं जाना जाता। **(कस्मात्) किस कारण से?** (परभावतः) पर रूपादि चतुष्टयों से, (तस्मात्) इस कारण से (वाच्यः न) वाच्य नहीं है, **(कथं) कैसे?** (एकान्ततः) एकान्तरूप से। *–(पद्य 7 की टीका)*

समीक्षा:– प्रतिप्रश्न शैली दोनों टीकाकारों की समान है, किन्तु कलश टीकाकार ने जहाँ प्रतिप्रश्न अपनी ओर से प्रस्तुत किया है, वहीं महासेन पंडितदेव ने प्रतिप्रश्न मूल में जोड़कर उसकी टीका प्रस्तुत की है। यह बात उपरिलिखित दोनों टीकाओं में गहरे मुद्रित पदों के अवलोकन से स्पष्टरूप से समझी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त इस टीका में ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय के अनुसार उत्थानिकाओं में परिवर्तन लाया गया है। यथा ग्यारहवें पद्य की उत्थानिका में आगे के चार श्लोकों का वर्ण्य-विषय एक होने से समग्र उत्थानिका दी है तथा फिर उन चार श्लोकों में से एक (14वें) में उत्थानिका ही नहीं दी है एवं बारहवें एवं तेरहवें पद्य की स्वतन्त्र उत्थानिकायें दी है। इससे विषयगत वर्गीकरण एवं क्रम समझने में सुविधा होती है।

प्रस्तुत 'कर्णाटकवृत्ति' नामक कन्नड़ टीका की भाषा सरल-सुबोधगम्य कन्नड़ भाषा है, तथापि 'हड़ेकन्नड़' (प्राचीन कन्नड़) होने से इसे कुछ क्रियापद एवं शब्दरूप आधुनिक कन्नड़ के अनुसार नहीं समझे जा सकते हैं। उनको समझने के लिए 'हड़े कन्नड़' का ज्ञान अपेक्षित है।

अन्य वैशिष्ट्य:– प्रस्तुत कन्नड़ टीका के प्रारंभ में टीकाकार ने पृथक्‌रूप

से मंगलाचरण (श्रिय:पति: केवलबोधलोचनं.....) किया है, जो कि संस्कृत भाषा में निबद्ध है। मंगलाचरण में ही तृतीय चरण में 'करोमि कर्णाटगिरा प्रकाशनं' कहकर टीका की भाषा 'कन्नड़' होने की सूचना दी है तथा मंगलाचरण के चतुर्थचरण में ग्रन्थ का नामकरण 'स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशति:' बताया है। तदुपरान्त कन्नड़ प्राक्कथन में उन्होंने तीन सूचनायें दी हैं – (1) आत्म-परिचय के रूप में अपना एवं अपने गुरू का नामोल्लेख सर्वप्रथम किया है – '**श्रीमन्नयसेनपण्डितदेव-शिष्यरप्प श्रीमन्महासेनदेवरु**... अर्थात् श्रीमान् नयसेन पण्डितदेव के शिष्य श्री महासेनदेव (ने यह कन्नड़ टीका की है)। (2) उद्देश्य–भव्य जीवों को संबोधित करने/समझाने के लिए यह कन्नड़ टीका की है–'**भव्यसार्थ-सम्बोधनार्थमागि**'। (3) ग्रन्थ के नामकरण का पुन: उल्लेख किया- '**स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशति: एंब ग्रंथमं**...।

तथापि यह प्राक्कथन ग्रन्थकर्त्ता के बारे में किंचित् भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न कर देता है। क्योंकि इसमें महासेनदेव ग्रन्थकर्त्ता प्रतीत होते हैं, किन्तु टीका की प्रशस्ति में उन्होंने अकलंक को मूलग्रन्थकर्त्ता तथा अपने को 'कर्णाटकवृत्ति' नामक इस टीका का कर्त्ता स्पष्टरूप से घोषित कर दिया है। मंगलाचरण में भी उन्होंने '**कर्णाटगिरा प्रकाशनं**' कहकर कन्नड़भाषायी भाग को ही अपना कृतित्व बताया है, जबकि मूलग्रन्थ संस्कृत में होने से उसके महासेनदेव-कृतित्व का स्वत: निषेध हो जाता है।

इस कन्नड़ टीका में ग्रन्थ के मूलपाठ अधिक वैज्ञानिकता के साथ उपलब्ध हुए हैं; जबकि प्रकाश्य संस्कृत टीका में जो पाठभेद हैं, उनमें अर्थ की संगति उतनी वैज्ञानिकता लिए हुए नहीं है। *–(देखें सम्पादकीय में पाठभेदों का चार्ट)*।

टीकाकार का परिचय:– टीकाकार ने प्रस्तुत 'कर्णाटकवृत्ति' नामक टीका में अपना नाम 'महासेन पण्डितदेव' तथा अपने गुरु का नाम 'नयसेन पण्डितदेव' बताया है। इसके अतिरिक्त अपने बारे में अन्य कोई जानकारी उन्होंने इस टीका में नहीं दी है। इस आधार पर जैन इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इनके गुरू नयसेन पण्डितदेव 'मूलसंघस्थ सेनान्वय-चन्द्रकवाट अन्वय' के विद्वान् त्रैविद्यचक्रवर्ती नरेन्द्रसूरि के शिष्य थे। यह नरेन्द्रसूरि या नरेन्द्रसेन आचार्य मल्लिषेण के गुरू आचार्य जिनसेन के 'सधर्मा' थे। आचार्य नरेन्द्रसूरि ने नयसेन को पढ़ा-लिखाकर अच्छा विद्वान् बनाया था, इसी कारण

से नयसेन ने अत्यन्त आदर के साथ अपने शिक्षा-दीक्षा गुरु आचार्य नरेन्द्रसूरि का स्मरण किया है। मूलगुंद के शिलालेख (सन् 1053 ई०) के अनुसार 'आचार्य नरेन्द्रसेन के शिष्य नयसेन सभी व्याकरण-ग्रन्थों के प्रगल्भ ज्ञाता थे।' आचार्य नयसेन की दो रचनायें उपलब्ध हैं – (1) कर्णाट (कन्नड़) भाषा का व्याकरण और (2) धर्मामृत। इन दोनों ग्रन्थों में प्रदर्शित इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य के आधार पर परवर्ती कवियों ने इनकी गणना 'कन्नड़ साहित्य के आकाश के देदीप्यमान नक्षत्र' के रूप में की है तथा इन्हें 'सुकविनिकरपिकमाकन्द', 'सुकविजनमनः सरोजराजहंस' आदि विशेषणों से विभूषित किया है। 'धर्मामृत' की प्रशस्ति के अनुसार आचार्य नयसेन कर्णाटक प्रान्त के धारवाड़ जिले की गदग तहसील से 12 मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित 'मूलगुन्द' नामक जगह के निवासी थे, जो कि एक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। यहीं के जैनमन्दिर में बैठकर उन्होंने 24 अधिकारयुक्त कन्नड़भाषामयी 'धर्मामृत' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ का रचनाकाल उन्होंने शक संवत् 1034 (गिरि-शिखी-वायु-मार्ग संख्य) बताया है। डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री ने इसका रचनाकाल 1121 ई० माना है।[1]

इन्हीं नयसेन के शिष्य महासेन हुए, जिनकी दो कृतियाँ विद्वानों ने मानी हैं– (1) स्वरूपसम्बोधन टीका एवं (2) प्रमाणनिर्णय। इनमें से 'प्रमाणनिर्णय' का उल्लेखमात्र प्राप्त होता है। संभव है यह ग्रन्थ भी किसी ग्रन्थभण्डार में हो, किन्तु आज तक इसकी कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। डॉ० ए०एन० उपाध्ये ने भ्रमवश 'स्वरूपसम्बोधन' को महासेनदेव की पच्चीसश्लोकमयी रचना बताया था, किन्तु अब इस तथ्य को किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि 'स्वरूपसम्बोधन पञ्चविंशतिः' के कर्त्ता भट्ट अकलंकदेव हैं और यह छब्बीस पद्यों (25 श्लोक एवं 1 प्रशस्ति पद्य) की संस्कृत भाषामयी रचना है तथा महासेनदेव ने इसकी 'कर्णाटकवृत्ति' नामक कन्नड़ टीका की रचना की है। महासेनदेव का काल ईसा की बारहवीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। चूंकि इनके गुरु आचार्य नयसेन का काल सन् 1121 ई० तक माना गया है, अतः ये इनसे पूर्ववर्ती तो हो नहीं सकते। तथा नियमसार के टीकाकार आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार टीका में महासेन पण्डितदेव का अत्यन्त आदरपूर्वक स्मरण किया है। तथा पद्मप्रभमलधारिदेव का स्वर्गारोहण 1185 ई० में हुआ था, अतः महासेनदेव निश्चितरूप से इनके पूर्ववर्ती हुए। इन दोनों कालावधियों के मध्य ही महासेन पण्डितदेव की उपस्थिति संभव होने से इन्हें ईसा की बारहवीं शताब्दी के मध्यकाल

का मनीषी मानना होगा।

इनका नाम महासेन था, तथा 'पण्डितदेव' इनकी उपाधि थी। इनकी गुरूपरम्परा के अवलोकन से प्रतीत होता है कि ये भी जैनश्रमण थे। इनके नाम के साथ प्रयुक्त 'पण्डित' शब्द आज के सन्दर्भों में नहीं था, अत: इन्हें गृहस्थ नहीं माना जा सकता है। इनका व्यक्तित्व भी महान् था। आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने इन्हें 'षण्णवति-तार्किक-विजयोपार्जित-विशालकीर्ति' विशेषण से विभूषित किया है, इससे ज्ञान होता है कि इन्होंने 96 तार्किकवादियों को पराजित कर अपार यश अर्जित किया था। उक्त कथन से इनका न्यायशास्त्रीय प्रकाण्ड पाण्डित्य स्पष्ट है। इस न्यायविषयक पाण्डित्य की झलक प्रस्तुत 'कर्णाटकवृत्ति' में भी कई पद्यों की उत्थानिकाओं में स्पष्टरीत्या मिलती है, तथापि अध्यात्मभावनाप्रधान ग्रन्थ होने से उन्होंने न्यायविषयक चर्चा को प्रधानता नहीं दी है; यह एक सफल एवं संतुलित टीकाकार का लक्षण है। इनका सफल टीकाकार के रूप में तो परिचय यहाँ मिल जाता है, किन्तु यदि 'प्रमाणनिर्णय' ग्रन्थ मिल जाये, तो इनकी न्यायविषयक विद्वत्ता एवं स्वतन्त्र ग्रन्थकार का व्यक्तित्व भी स्पष्ट हो सकता है।

इससे अधिक कुछ भी परिचय महासेन पण्डितदेव के बारे में उपलब्ध नहीं होता है। हाँ ! इतना अवश्य है कि इन्होंने ग्रंथारम्भ में अपना नाम 'महासेनदेव' बताया है, जबकि ग्रंथ की प्रशस्ति में इन्होंने स्वयं एवं पद्मप्रभमलधारिदेव ने इन्हें **'महासेन पण्डितदेव'** कहा है, जो कि इनके गुरू **'नयसेन पण्डितदेव'** की परिपाटी का अनुसरण भी है एवं बहुमानसूचक भी। ग्रन्थ की प्रशस्ति में इन्होंने टीका के निमित्त के रूप में सूरस्तगण के अग्रणी सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमत् (बड़े) वासुपूज्य सैद्धान्तदेव के प्रिय शिष्य पद्मरस का उल्लेख किया है। किन्तु प्राप्त जैन इतिहास में मुझे वासुपूज्य सैद्धान्तदेव एवं उनके शिष्य पद्मरस का कहीं नामोल्लेख भी नहीं मिलने से इनके आधार पर महासेनपंडितदेव के व्यक्तित्व एवं परिचय पर कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है।

एक बात और उल्लेखनीय है। पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य लिखते हैं कि 'उपलब्ध महासेनों में कोई नयसेन का शिष्य नहीं है,[1] जबकि टीकाकार महासेनपंडितदेव ने स्वयं को नयसेन पण्डितदेव का शिष्य कहा है, तथा कालगत दृष्टि से देखने पर भी ये नयसेन पंडितदेव के साक्षात् शिष्य प्रतीत होते हैं। और

---

[1] जैन साहित्य का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 190।

मजे की बात यह भी है कि इन दोनों तथ्यों की जानकारी पं० जी को थी। संभवतः उन्होंने प्रचलित इतिहास के आधार पर यह बात कही होगी; किन्तु तथ्यों से इतिहास बनता है, इतिहास से तथ्य नहीं। जब नवोपलब्ध तथ्य इतिहास के नये पक्ष को प्रस्तुत कर रहे हैं, तब उन्हें नकारना निष्पक्ष विद्वत्ता कदापि नहीं हो सकती। इसे मात्र पूर्वाग्रह ही कहा जा सकता है।

अस्तु, अन्य विशेष प्रमाणों के अभाव में कर्णाटक वृत्तिकार महासेनदेव-विषयक चर्चा को यहीं विराम देते हुए संस्कृत टीका एवं उसके टीकाकार के विषय में विचार करते हैं।

संस्कृत टीका एवं उसके रचयिता:– इस टीका का नाम टीकाकार ने **'स्वरूपसम्बोधनवृत्ति'** रखा है। यह भी 'कर्णाटकवृत्ति' के समान ही **पदव्याख्या शैली** की टीका है। इसमें अकलंकदेव की आत्मभावना को उभारा गया है एवं न्यायवेत्तृत्व को प्रायः गौण कर दिया है। इसी कारण से टीका में अध्यात्म-दृष्टि से कई विवेचन 'कर्णाटकवृत्ति' की अपेक्षा प्रभावी एवं विशिष्ट हैं। कुछ बानगियाँ दृष्टव्य हैं–

(प्रथम पद्य की उत्थानिका में) "श्रीमदकलंकदेवः **स्वस्य भावसंशुद्धेर्निमित्तं** सकल भव्यजनोपकारिणं.... (द्वितीय पद्य की टीका में) ग्राह्यः =**ज्ञानेन ज्ञातव्यः**। (तृतीय पद्य की टीका में) ज्ञानदर्शनतः = **असाधारणज्ञान-दर्शनगुणैः भेदात्मकः**। (पद्य 11 में) **भेदकरणं व्यवहारः, स एव निश्चयस्य** कारणत्वात् (पद्य 16 में) **श्रद्धालुः**। (पद्य 17 में) **तेन स्वास्थ्येन वस्तुस्वरूपज्ञानं स्यात्, तेन वस्तुस्वरूपज्ञानेन शुद्धात्मभावना लभ्यते**। (पद्य 18 में) तत्त्वचिन्तापरो भव = **आत्मस्वरूप भावनातत्परो भव**। (पद्य 19 में) संसार-तन्निबन्धनशरीरादिबाह्यवस्तुषु; उपेये = उपेयस्वरूपे **स्वस्मिन् स्वस्वरूपे**। (पद्य 21 में) सः = स एव। (पद्य 26 में) **स्वसंवेद्यात्मानं निर्ग्रंथाभिप्रायेण निश्चित्य निस्संगः सन् भाविते सति परमात्मसंपत्तिः संभवति**। (टीकाकार की प्रशस्ति में) टीका केशववर्यैः कृता **स्वरूपोपलब्धिमावाप्तुम्**। – इत्यादि

इसके अतिरिक्त टीका में अनेक स्थलों पर व्याकरणिक दृष्टि से भी समास-विग्रह आदि दिखाये गये हैं। यथा – ज्ञानमेवमूर्तिर्यस्यासौ, तं ज्ञानमूर्तिम्; परमश्चासावात्मा च परमात्मा (दोनों पद्य 1)। आदिश्चान्तश्चाद्यन्तौ, न विद्येते आद्यन्तौ यस्यासावनाद्यन्तः (पद्य 2)। सर्वं गतं ज्ञातं येनासौ सर्वगतः (पद्य 5)।

सहितो मूर्तिः समूर्तिः (पद्य 8) – इत्यादि।

इनके अतिरिक्त संस्कृत टीका की एक अन्य विशेषता है टीका के अन्त में भावार्थ देने की। यद्यपि उन्होंने उसे भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं, जैसे कि **इत्यर्थः** (पद्य 1 एवं 3 में); **इति भावः** (पद्य 5, 6, 7, 8, 9, 12, 14, 20, 22, 23, 24, 25 में), **तात्पर्यार्थः** (पद्य 4 में); इति **भावार्थः** (पद्य 11, 15, 16, 17 में); इति **अभिप्रायः** (पद्य 19, 21 में); इति **तात्पर्यः** (पद्य 26 में) तथा **समर्थितमित्युक्तं भवति** (पद्य 2 में)। ये 'भावार्थ' या 'विशेषार्थ' अपने आप में अतीव महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें वर्ण्य-विषय का स्पष्टीकरण अध्यात्म-दृष्टि से किया गया है तथा टीका में पदव्याख्या-शैली के कारण जो बातें नहीं कही जा सकीं थीं, टीकाकार ने इन विशेषार्थों में उनका स्पष्टीकरण किया है। यद्यपि अधिकांश विशेषार्थ अध्यात्मदृष्टिप्रधान ही हैं; किन्तु द्वितीय पद्य के विशेषार्थ में उन्होंने मतार्थ की समीक्षा भी न्यायशैली में की है–

''जीवाभावं वदतां **शून्यवादिनां मतं निराकृत्य अप्रतिहतस्याद्वादवादिमतानुसार्युपयोगलक्षण**-लक्षितात्मास्तित्वं समर्थितमित्युक्तं भवति।''

जहाँ 'कर्णाटकवृत्ति' में उत्थानिकाओं में विस्तार एवं न्याय आदि दार्शनिक विशेषतायें भरी हुई थीं, वहीं संस्कृत टीका में उत्थानिकायें संक्षिप्त एवं विषय की सूचनामात्र प्रदान करती हैं। वे कभी-कभी पिछले पद्य के भावार्थ से जुड़ी हुई भी हैं, यथा द्वितीय पद्य की उत्थानिका में टीकाकार कहते हैं – ''ईदृशात्मस्थितिं वक्तुमाह।'' यहाँ 'ईदृश' पद प्रथम पद्य के विशेषार्थ में कहे गये आत्मस्वरूप का सूचक है।

इस टीका में टीकाकार ने स्वतंत्र मंगलाचरण, प्राक्कथन एवं प्रशस्ति लिखी है, जो महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से भरी हुई हैं। यथा **मंगलाचरण** में ग्रन्थ का नाम 'स्वरूपसम्बोधन' तथा ग्रन्थकर्ता का नाम 'अकलंक' स्पष्टरूप से बताया है। तदुपरान्त **प्राक्कथन** में भी ग्रंथ का एवं ग्रंथकर्त्ता का इसी तरह उल्लेख करते हुए ग्रंथ रचना का उद्देश्य **''स्वस्य भावसंशुद्धेर्निमित्तं''** (अपने भावों की विशेष शुद्धि के निमित्त) ग्रन्थ की रचना का फल – **''सकलभव्यजनोपकारिणं''** (सम्पूर्ण भव्यजीवों का उपकार करने वाला), ग्रन्थ का आकार एवं महत्त्व – **ग्रंथेनाल्पमनल्पार्थं** (ग्रंथ अर्थात् आकार की दृष्टि से संक्षिप्त किन्तु अर्थ की दृष्टि से अगाध) इत्यादि अति महत्त्वपूर्ण बातें प्राक्कथन में समाहित हैं।

टीकाकार की प्रशस्ति भी दो अनुष्टुप् छन्दों में निबद्ध है। इसमें भी प्रथम पद्य में उन्होंने कवि-हृदय होकर आलंकारिक शैली में इस ग्रंथ में भट्ट अकलंकदेवरूपी चन्द्रमा की सूक्ति-श्रेष्ठवचनोंरूपी निर्मल किरणों को भव्यजीवों के हृदयरूपी कुमुदिनियों के विकसित होने/खिलने/आनन्दित होने का कारण बताया है–

"भट्टाकलंकचन्द्रस्य सूक्ति-निर्मूलरश्मयः।
विकासयन्तु भव्यानां हृत्कैरवसंकुलम्।।"

तथा प्रशस्ति के द्वितीय पद्य में ग्रन्थकर्त्ता का नाम, ग्रन्थ का नाम बताते हुए टीकाकार ने अपना नाम 'केशववर्य्य' (टीका केशववर्य्यैः कृता) तथा टीका का उद्देश्य 'आत्मस्वरूप की उपलब्धि' (स्वरूपोपलब्धिमावाप्तुम्) बताया गया है। जहाँ मंगलाचरण एवं प्राक्कथन में ग्रन्थकर्त्ता का नाम मात्र 'अकलंक' बताया था, वहीं प्रशस्ति में इसमें 'भट्ट' एवं 'देव' पदों का समायोजनकर (भट्टाकलंकदेवैः) ग्रन्थकर्त्ता के विषय में समस्त भ्रमों का निवारण कर दिया है। क्योंकि अकलंक नाम से कई आचार्य जैन परम्परा में हुये हैं एवं उन्होंने ग्रन्थ-रचना भी की है। किन्तु 'भट्ट' पदवी के धारक तथा देव' नामान्त वाले अकलंक बौद्ध-विजेता, तार्किकशिरोमणि महान् समर्थ आचार्य थे, जो निष्कलंक के भाई थे तथा कथा-ग्रन्थों में जिनकी अनेकविध कथायें प्रचलित हैं। इनका परिचय पहले दिया जा चुका है।

जहाँ 'कर्णाटकवृत्ति' में 'पञ्चविंशतिः' पद को मूलग्रन्थ के नामकरण में शामिल किया गया था, वहीं संस्कृत टीकाकार ने इसे ग्रंथ के नाम से भिन्न कर दिया है–

"स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशतिः = स्वरूपसम्बोधन इति पंचविंशति ग्रंथप्रमाण ग्रंथः।" किन्तु यह कथन यहाँ कतई प्रासंगिक नहीं है कि अन्य आधुनिक सम्पादकों ने जो 'स्वरूपसम्बोधन' नाम लिया है, वह इसी टीका से लिया है; क्योंकि यह टीका आज तक अप्रकाशित ही रही है। कन्नड़ ताड़पत्रों से यह इस संस्करण में प्रथमबार प्रकाशित हो रही है। तथा जब मूल ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्तिम पद्य में इसका नाम 'स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशतिः' ही दिया है, तब आधुनिक सम्पादकों को ग्रंथ के नाम में फेरबदल या कतरब्यौंत करने का कोई अधिकार ही नहीं रह जाता है। जहाँ तक संस्कृत टीकाकार के प्रयोग का प्रश्न

है, तो इसे उनका व्यक्तिगत अभिमत माना जा सकता है; जिससे असहमत होते हुए भी इस पर कोई टिप्पणी करने का अधिकार मैं अपने पास नहीं मानता हूँ।

टीकाकार:— प्रस्तुत संस्कृत टीका के टीकाकार ने टीका की प्रशस्ति में अपना नाम **'केशववर्य्य'** लिखा है। एकाध अन्य प्रति में इसकी जगह 'केशवण्ण' पाठ भी पढ़ा गया है। किन्तु उपलब्ध जैनाचार्य-परम्परा के इतिहास में 'केशववर्य्य' या 'केशवण्ण' नाम से कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इससे मिलते-जुलते नामों वाले चार मनीषियों की सूचना मिलती है। जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नानुसार है–

1. इनका नाम **केशवनन्दि** है। ये बलगारगण के भट्टारक मेघनन्दि के शिष्य थे। समय **शक संवत् 970 (1048 ई०)** माना गया है।

2. **केशवराज** नामक ये साहित्यकार 'सूक्तिसुधार्णव' के कर्त्ता मल्लिकार्जुन के पुत्र थे, प्रसिद्ध कन्नड़ कवि जन्न इनके मामा थे। इनकी रचनाओं में से मात्र 'शब्दमणिदर्पण' नामक कन्नड़व्याकरण का ग्रन्थ ही उपलब्ध है, जो कि आठ अध्यायों में विभक्त पद्यमयी रचना है। इनका समय **सन् 1060 ई०** के लगभग माना गया है।

3. ***केशववर्णी:***– यह सैद्धान्तिक अभयचन्द्रसूरि के शिष्य थे। इन्होंने भट्टारक धर्मभूषण के आदेश पर **शक संवत् 1281 (1359 ई०)** में 'गोम्मटसार' ग्रंथ की 'जीवतत्त्वप्रबोधिका' नामक संस्कृत-कन्नड़-मिश्रित टीका लिखी थी। 'कर्नाटक कविचरित' से ज्ञात होता है कि इन्होंने 'अमितगति श्रावकाचार' पर भी टीका लिखी थी। देवचन्दकृत 'राजाबलिकथे' के अनुसार इन्होंने शास्त्रत्रय (समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय) पर भी टीकाओं की रचना की थी। कवि मंगराज ने इन्हें 'सारत्रयवेदि' विशेषण दिया है। इनका समय **ईसा की 14वीं शताब्दी** माना गया है।

4. ***केशवसेन सूरि*** या **ब्रहमकृष्ण** नामक ये चतुर्थ विद्वान् काष्ठासंघी भट्टारक रत्नभूषण के प्रशिष्य एवं जयकीर्ति के पट्टधरशिष्य थे। ये 'कवि कृष्णदास' के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी तीन रचनायें हैं – कर्णामृतपुराण, मुनिसुव्रतपुराण और षोडशकारणव्रतोद्यापन। इनका समय **विक्रम की 17वीं शताब्दी** माना गया है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो 'केशवनन्दि' का साहित्यकाररूप अज्ञात

है। तथा 'केशवराज' ने कन्नड़ ग्रन्थों की रचना की है– इनकी रचनाओं का स्पष्ट विवरण मिलता है, और उनमें 'स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशतिः' की टीका का कोई उल्लेख नहीं है; वैसे भी इन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे हैं, टीकाग्रन्थ नहीं। 'केशवसेनसूरि या ब्रह्मकृष्ण' मूलतः अच्छे कवि थे और उन्होंने कथाप्रधान काव्यग्रन्थों की ही रचना की है, सैद्धान्तिक या टीकाग्रन्थ उन्होंने नहीं लिखे। अतः ये तीनों प्रस्तुत 'स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशति' के टीकाकार 'केशववर्य्य' या 'केशवण्ण' नहीं हो सकते। इनके नामों का भी अधिक साम्य नहीं है। एकमात्र 'केशववर्णी' ही ऐसे व्यक्तित्व हैं, जो मूलतः टीकाकार हैं; क्योंकि इन्होंने सारे टीकाग्रन्थ ही लिखे हैं। तथा ये सिद्धान्तवेत्ता भी थे और अध्यात्मवेत्ता भी; क्योंकि इन्होंने 'गोम्मटसार' जैसे सिद्धान्तग्रन्थ की टीका की और समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय जैसे अध्यात्मग्रन्थों की भी टीकायें की हैं। इनका नाम भी 'केशववर्य्य' या 'केशवण्ण' से अधिक साम्य रखता है। जहाँ तक इनकी रचनाओं में 'स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशति' की टीका का कोई उल्लेख न मिलने का प्रश्न है, तो ऐसी ही स्थिति 'अमृताशीति' के टीकाकार बालचन्द्र अध्यात्मी के साथ भी मुझे पेश आयी थी। उनकी समयसार आदि ग्रन्थों की टीकाओं का विवरण मिलता था, किन्तु 'अमृताशीति' की टीका की कोई सूचना नहीं थी। फिर भी अमृताशीति के टीकाकार ने अपने गुरु आदि को जो परिचय दिया था, उससे उनके निर्धारण में समस्या नहीं आयी थी; जैसे कि 'कर्णाटकवृत्ति' के रचयिता महासेन पण्डितदेव के बारे में अधिक स्पष्टता रही है। अतः पर्याप्त साम्य होते हुए भी गुरुपरम्परा या अन्य कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं होने से स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशतिः के प्रस्तुत संस्कृत टीकाकार 'केशववर्य्य' या 'केशवण्ण' पूर्वोक्त 'केशववर्णी' ही थे– यह बात बहुत अधिक दृढ़तापूर्वक तो नहीं कही जा सकती है; किन्तु उक्त समानताओं के आधार पर यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि केशववर्णी ही 'केशवण्ण' या 'केशववर्य्य' हो सकते हैं।

इस बारे में मैंने दशाधिक ख्यातिप्राप्त सम्पादक विद्वानों से विचार-विमर्श किया एवं तथ्यों की जानकारी दी, तो उन्होंने मेरी अवधारणा (कि केशववर्णी ही केशववर्य्य या केशवण्ण हैं) से पूर्ण सहमति व्यक्त की है। इसप्रकार यद्यपि इस बात को मेरा अन्तःकरण भी गवाही दे रहा है तथा विद्वानों ने भी इसकी पुष्टि कर दी है, तथापि पूर्ण स्पष्ट प्रमाण के अभाव में मैं अत्यन्त दृढ़तापूर्वक विज्ञजनों के सामने इस अवधारणा को प्रस्तुत नहीं कर पा रहा हूँ। हो सकता है कि समय इसका

समाधान करे।

अन्य टीकायें - डा० ए० एन० उपाध्ये ने अपने शोध आलेख में लिखा है कि 'स्वरूप-सम्बोधन पर **केशवाचार्य** और **शुभचन्द्र** ने वृत्तियाँ लिखीं हैं।' इनमें से केशवाचार्य तो संभवत: उक्त संस्कृत टीकाकार **केशवर्य्य या केशवण्ण** ही प्रतीत होते हैं तथा शुभचन्द्रकृत वृत्ति का अथक प्रयास के बाद भी पता नहीं चल सका है। यद्यपि डॉ० ए०एन० उपाध्ये सदृश विद्वान् निराधार कोई उल्लेख नहीं करते थे, किन्तु कदाचित् वे यह आधार अपने लेख में स्पष्ट कर देते, तो इस बारे में दिशाहीन नहीं भटकना पड़ता।

एक अन्य टीका का उल्लेख **'आरा प्रति'** की प्रशस्ति में भी मिलता है -

"अकरोदार्हितो ब्रह्मसूरिपंडितसद्विज:।
स्वरूपसम्बोधनाख्यस्य टीकां कर्णाटभाषया।।"

अर्थात् आर्हत मतानुयायी **ब्रह्मसूरि पंडित** नामक ब्राह्मण विद्वान् ने 'स्वरूप सम्बोधन' नामक ग्रन्थ की कन्नड़ भाषा में टीका की थी।

यद्यपि 'आरा प्रति' इसी टीका प्रति के आधार पर लिखी गयी है, किन्तु लिपिकार ने मूलग्रन्थ की ही प्रतिलिपि की है, टीका की नहीं। मात्र टीकाकार का प्रशस्ति-पद्य इस प्रति में लिपिकार ने दिया है, जिससे यह ज्ञात हो सका कि 'ब्रह्मसूरि पंडित' नामक विद्वान् ने भी इस ग्रन्थ पर कन्नड़ भाषा में टीका लिखी थी; जो आज अनुपलब्ध हैं।

अस्तु, 'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशति' की प्रस्तुत दो ही टीकायें प्राप्त हो सकीं, जो कि इस संस्करण में प्रकाशित कीं जा रहीं हैं। उल्लिखित या अनुल्लिखित किसी अन्य टीका के बारे में विज्ञ पाठकगण यदि कोई स्पष्ट सूचना दे सकें, तो उसका स्वागत रहेगा।

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण के बाद मूलग्रन्थ के वर्ण्य-विषय एवं उसके वैशिष्ट्य का परिचय यहाँ अपेक्षित है।

वर्ण्य-विषय - ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय मूलत: अध्यात्म है। मूलग्रन्थकार भट्ट अकलंकदेव इस बारे में लिखते हैं -

"इति स्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयं, य एतदाख्याति शृणोति चादरात्।
करोति तस्मै परमात्मसंपदं, स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशति:।। 26।।"

अर्थात् इस प्रकार से इस ग्रन्थ में स्वतत्त्व (निज शुद्धात्मतत्त्व) की वचनात्मक

अभिव्यक्ति की गयी है, उसे जो व्यक्ति विनयपूर्वक सुनेगा, पढ़ेगा या सुनायेगा; उसके लिए 'स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशति' के द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति होगी।

ग्रन्थ का नामकरण भी आध्यात्मिक गहराई को बताता है। प्रतीत होता है कि भट्ट अकलंकदेव ने संभवतः योगीन्द्रदेवकृत 'योगसार' ग्रन्थ में योगीन्द्रदेव (छठवीं शता०ई०) के आत्मकथ्य **"अप्पासंबोहण कया दोहा एक्कमणेण"** (अपने आपको सम्बोधनार्थ मैंने इन दोहों की एकाग्रचित्त होकर रचना की है) को इस ग्रन्थ के नामकरण का आदर्शवाक्य माना होगा। दुनियाँ को सुनाना-समझाना आसान है; किंतु उसी तत्त्व को स्वयं को समझा पाना, अपने गले उतार पाना कठिन है। इस ग्रन्थ में दूसरों को उपदेश देने के लिए नहीं, अपितु व्यक्ति स्वयं को स्वयं समझ सके – इस दृष्टिकोण से आत्मतत्त्व का कथन किया गया है। इसी तथ्य को संस्कृत टीकाकार केशववर्य्य ने भी स्वीकार किया और कहा कि इस ग्रन्थ की टीका मैंने आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए की है –

"टीका केशववर्य्यैः कृता स्वरूपोपलब्धिमावाप्तुम्।"

इतना ही नहीं, उन्होंने घोषित किया है कि "मूलग्रन्थकर्त्ता भट्ट अकलंकदेव ने भी इस ग्रन्थ की रचना अपने भावों की संशुद्धि के लिए की है-"

"श्रीमदकलंकदेवः स्वस्य भावसंशुद्धेर्निमित्तं ......"

किन्तु 'कर्णाटकवृत्ति' के कर्त्ता **महासेन पंडितदेव** ने इस ग्रन्थ की रचना 'भव्य जीव-समूह को सम्बोधित करने के लिए' मानी है -

"भव्यसार्थसम्बोधनार्थमागि ......"

संस्कृत टीकाकार भी इससे असहमत नहीं हैं, वे इस ग्रन्थ को '**सकल भव्यजनोपकारी**' (सकलभव्यजनोपकारिणं ...) मानते हैं।

जैन-साहित्य में 'मोक्ष-प्राप्ति की मूलभूत पात्रता' को 'भव्यत्व' माना गया है। आचार्य पद्मनन्दि 'पद्मनन्दिपञ्चविंशतिः' में लिखते हैं कि "इस आत्मतत्त्व की चर्चा जिसने प्रीतिपूर्वक प्रसन्नचित्त से सुनी है, वह 'भव्य' है"–

"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन, येन वार्त्ताऽपि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद् भव्यो, भावि-निर्वाणभाजिनम्।।" (4/23)

इस अभिप्राय के अनुसार इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निश्चित रूप से भव्य जीवों के लिए उपयोगी है।

इस ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय को दो वर्गों में विभाजित कर समझा जा सकता है–

1. आत्मा के स्वरूप-विषयक सैद्धान्तिक विवेचन और 2.आत्मस्वरूप की भावना-विषयक आध्यात्मिक वर्णन।

1. आत्मा के स्वरूप विषयक सैद्धान्तिक विवेचन– इसमें न्याय का अभिप्राय पूर्णतया समाहित होते हुए भी शब्दों में कहीं भी उसे मुखरित नहीं होने दिया गया है। प्रारम्भिक दस पद्यों में आत्मा के जिन धर्मों को विवेचन किया गया है, उन सभी से आत्मा के स्वरूप के बारे में अन्य मतावलम्बियों के द्वारा प्रतिपादित आत्मा के स्वरूपविषयक मिथ्या मान्यताओं का निराकरण होता है। इस वर्णन में जहाँ जैनदर्शन के द्वारा स्वीकृत आत्मतत्त्व के स्वरूप के बारेमें विस्तृत एवं स्पष्ट जानकारी प्राप्त होती है, वहीं यह भी स्पष्टरूप से पता चलता है कि यह वचन भट्ट अकलंकदेव जैसे प्रकाण्ड न्यायवेत्ता आचार्य के हैं। यहाँ पर **महापुराण** के कर्त्ता **आचार्य जिनसेन** के द्वारा अपने गुरू 'धवला' के प्रणेता **आचार्य वीरसेन स्वामी** के बारे में कहे गये वे वचन स्मृत हो जाते हैं,¹ जिनमें आचार्य जिनसेन ने वीरसेन स्वामी की उपमा ऐसे पूँछवाले समर्थ बैल से की है, जिनके एक वाक्यरूपी पूँछ हिलाते ही हजारों मक्खियोंरूपी कुवादियों के मतों का निवारण हो जाता था। इसी प्रकार इन प्रारम्भिक दस पद्यों में भट्ट अकलंकदेव ने प्रत्येक पद्य में अनेक मतवादियों की मान्यताओं का निराकरण किया है, और वह भी किसी का नामोल्लेख किये बिना। लगता है न्यायग्रन्थों का प्रणयन करते-करते अन्यवादियों के मतों के निराकरण का जो अभ्यास अकलंकदेव को हो गया था; उससे वे इस ग्रन्थ में अपने को बचा नहीं पाये और प्रारम्भ में इसका पूरा प्रयोग उन्होनें किया है। किन्तु इतना अवश्य है कि अध्यात्म-शास्त्र की मर्यादा का अनुपालन करते हुए उन्होनें मतान्तरों के उल्लेख एवं पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष शैली से इस ग्रन्थ को मुक्त रखा है। इस सैद्धान्तिक विवेचन में समागत कुछ महत्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार हैं–

(क) चार्वाकमत समीक्षा - चार्वाक दर्शन के आचार्य बृहस्पति 'आत्मा' या 'जीव' का स्वतन्त्र वस्तुरूप में अस्तित्व नहीं मानते हैं।² वे चार मूलतत्त्व या 'भूत' मानते हैं - पृथिवी, जल, अग्नि एवं वायु -

"अत्र चत्वारि भूतानि पृथिवीजलानलानिल:।"

तथा जो जगत् में चैतन्य या 'चेतना' दिखाई पड़ती है, वह इन चारों के संयोग से उत्पन्न है - **"चैतन्यभूमिरेतेषाम्"** अर्थात् ये चारों भूत (पृथिवी आदि) मिलकर चैतन्य को उत्पन्न करते हैं। जैसे किन्हीं महुआ आदि मादक पदार्थों से मदशक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पृथिवी आदि चार भूततत्त्वों के विशिष्ट संयोग के

देहाकार परिणमनस्वरूप चैतन्य उत्पन्न होता है -

"पृथ्व्यादिभूतसंहत्या तथा देह-परीणते: ।
मदशक्ति: सुरांगेभ्यो यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि ।।" (षड्दर्शनसमुच्चय, 84)

इस चैतन्य शक्ति का आधार वह पृथिवी आदि चार भूततत्त्वों के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न शरीर को मानता है, न कि 'आत्मा' या 'जीव' जैसा कोई स्वतन्त्र तत्त्व। उसका सर्वप्रथम निराकरण करते हुए ग्रन्थकर्त्ता लिखते हैं - **"सोऽस्त्यात्मा"** अर्थात् वह 'आत्मा' नामक स्वतन्त्र पदार्थ है, उसके स्वतन्त्र अस्तित्व पर शंका नहीं की जा सकती है। और इसके साथ ही उस आत्मतत्त्व का स्वरूपगत परिचय देते हुए वे लिखते हैं कि 'आत्मा ज्ञानदर्शनात्मक उपयोगरूप पदार्थ है, जो क्रमश: कारण और कार्यरूप होता है। वह स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य है तथा रूपी पदार्थ का ग्रहण करने वाले स्थूल इन्द्रियज्ञान के द्वारा उसका ग्रहण असंभव है। अनादि अनन्त होते हुए भी यह सांख्यों की तरह कूटस्थ नित्य नहीं है, इसमें उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य-तीनों स्थितियाँ हैं' (पद्य 2)। यहाँ 'उपयोगरूप' कहकर आत्मतत्त्व' का स्वतन्त्र लक्षण बताया गया है। स्वतन्त्र लक्षण का कथन वस्तु की स्वतन्त्र प्रभुसत्ता का द्योतक होता है। इससे चार्वाक की जड़शरीराश्रित चैतन्यवाद की कल्पना खंडित हो जाती है।

हेतुफलावह:' पद का प्रयोग करके वह पुण्य-पापरूप परिणामों का स्वतन्त्र कर्त्ता एवं उनके फल का भोक्ता बताया गया है; इससे चार्वाक की यह मान्यता कि 'पुण्य-पाप का फल नहीं भोगना पड़ेगा' - स्वत: असत्य सिद्ध हो जाती है। यदि चार्वाक कहे कि "आत्मा जैसी कोई वस्तु है, बताओ कहाँ है? दिखाई क्यों नहीं देती?" तो इसका समाधान है कि वह स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है, रूपी पदार्थ का ग्रहण करने वाले स्थूल इन्द्रियज्ञान के द्वारा नहीं। 'आत्मा' या 'चैतन्य' किसी के संयोग से उत्पन्न होने वाले क्षणिकतत्त्व नहीं हैं- यह सूचना 'अनादि अनन्त' विशेषण देता है तथा अनादि अनन्त तत्त्व होते हुए भी उसकी स्वतन्त्र परिणति निरन्तर चलती रहती है - यह बात 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप' कहकर आचार्यदेव ने कही है। इस प्रकार चार्वाक का नाम एवं उसके सिद्धान्तों का उल्लेख किये बिना ही आचार्य अकलंकदेव ने आत्मतत्त्व के स्वरूप का ऐसा विवेचन ग्रन्थ के द्वितीय पद्य में किया है कि चार्वाक के द्वारा आत्मा के बारे में प्रतिपादित समस्त भ्रामक एवं मिथ्या मान्यताओं का निराकरण हो जाता है।

(ख) **वैशेषिक मत समीक्षा** – वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं, इनका दूसरा नाम 'उलूक' भी था। अतः इस दर्शन को 'काणाद दर्शन' या 'औलूक्यदर्शन' भी कहा जाता है। यह सात पदार्थ मानता है – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। 'विशेष' नामक पदार्थ की प्ररूपणा के कारण इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा। किन्तु इसकी विशिष्ट दार्शनिक परिकल्पना 'समवाय' नामक पदार्थ या सम्बन्ध है। जैनदर्शन पदार्थ का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक ("सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः"–परीक्षामुखसूत्र) एवं गुणपर्यायात्मक ("गुणपर्ययवद् द्रव्यम्"-तत्त्वार्थसूत्र) तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ("उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्"- तत्त्वार्थसूत्र) मानता है। जिसके फलस्वरूप द्रव्य से सामान्य (जाति) एव विशेष (व्यक्ति) अभिन्न सिद्ध होते हैं। यथा- जैनदर्शन विशिष्ट जीव पदार्थ एवं उसकी जीवत्व सामान्य जाति अभिन्न मानता है। इसी प्रकार गुण एवं पर्यायें (वैशेषिक-कार्य) भी द्रव्य से अभिन्न मानता है; जबकि वैशेषिक इन सबको पृथक्-पृथक् पदार्थ के रूप में कल्पित करता है, जो कि वास्तविक नहीं है। तथा वैशेषिक अभाव को स्वतन्त्र पदार्थ मानता है, जबकि जैनदर्शन अभाव को वस्तु का ही धर्म मानता है - "**भवत्यभावोऽपि हि वस्तुधर्म**।" चूंकि वस्तुतः ये सब चीजें भिन्न-भिन्न उपलब्ध नहीं होती हैं; अतः वैशेषिक को इनके एक संयोजक पदार्थ की परिकल्पना करनी पड़ी, जिसे 'समवाय' नाम दिया गया। जैनदर्शन को द्रव्य से गुण, कार्य, सामान्य, विशेष आदि के कथंचित् भिन्न होने में कोई विरोध नहीं है; किन्तु वैशेषिक तो इन्हें सर्वथा भिन्न मानते हैं। और समवाय से इनका परस्पर संयोजन मानते हैं। अतः इसी समवाय-परिकल्पना की विशेषतः समीक्षा 'आत्मा' के स्वरूपवर्णन के प्रसंग में ग्रन्थकर्त्ता ने की है।

वैशेषिक के अनुसार जीवद्रव्य भिन्न है एवं ज्ञानादिचेतन गुण भिन्न हैं, तथा उनकी मतिज्ञानादि रूप पर्यायें भी पृथक् ही हैं। अतः चेतनगुणों के अभाव में आत्मा स्वरूपतः 'अचेतन' हुआ तथा चेतनगुणों के समवाय से 'चेतन' कहा जायेगा। भट्ट अकलंकदेव कहते हैं कि आत्मा में प्रमेयत्वादि सामान्यगुण भी हैं, जो कि अचेतन द्रव्यों (पुद्गल आदि) में भी पाये जाते हैं। चूंकि जैनदर्शन में इन गुणों का अस्तित्व आत्मा में भी माना गया है, किन्तु इनके कारण आत्मा को चेतन नहीं माना गया; अतः इन गुणों की अपेक्षा आत्मा अचेतन है तथा ज्ञानदर्शन आदि चेतनगुणों के कारण आत्मा 'चेतन' माना गया है। अतः जैनदर्शन में आत्मा को चेतन-अचेतनरूप होना उसके अभिन्न स्वकीय गुणों की अपेक्षा है, जबकि वैशेषिक दर्शन में आत्मा का स्वरूपतः अचेतनपना ज्ञानादि चेतनगुणों की वस्तुगत

भिन्नता के कारण माना गया है। तथा समवाय सम्बन्ध से इन गुणों के औपाधिक सन्निधान से उसे औपचारिकरूप से चेतन कहा गया है। अतः वैशेषिकों की इस समवायपरक मान्यता का खंडन अकलंकदेव ने ग्रन्थ के चौथे पद्य (प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैः ......) में किया गया है।

(ग) **ब्रह्माद्वैतवादमत की समीक्षा** - **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** अर्थात् यह सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्ममय है - ऐसी ब्रह्माद्वैतवादियों की मान्यता है। समस्त भेद एवं नानात्व को वे मायारूप मानकर अज्ञानजन्य कहते हैं। क्योंकि वे जगत् में एक ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं; दूसरे किसी भी पदार्थ की स्वीकृति उनके ब्रह्म की अद्वैतता खंडित कर देगी, इस कारण उन्होंने ब्रह्म के अतिरिक्त किसी पदार्थ की सत्ता ही नही मानी है। उनकी इस मान्यता की समीक्षा करते हुए अकलंकदेव ने आत्मा की एकानेकरूपता का निरूपण किया है। वे कहते हैं कि घटज्ञान-पटज्ञान आदि अनेक प्रकार के ज्ञानों के कारण आत्मा को अनेकरूप कहा जाता है तथा उन सब में व्याप्त एक चेतना के कारण वह आत्मा एकरूप ही है; इस प्रकार अनेकान्तदृष्टि से आत्मा में एकपना और अनेकपना - दोनों हैं, मात्र एकत्व ही नहीं है। (पद्य 6)

(घ) **मीमांसकमत समीक्षा** - मीमांसक आत्मा के बारे में कहता है कि आत्मा कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता है। उसकी समीक्षा करते हुए आचार्य अकलंकदेव ने दसवें पद्य में कहा है कि 'अन्तरंग एवं बहिरंग तप आदि साधनों से आत्मा कर्मजंजाल से अवश्य मुक्त हो सकता है, यह मुक्तत्व वस्तुतः तो उसका स्वभाव ही है।'

(ङ) **सांख्यमत समीक्षा** - सांख्य की मान्यता है कि 'आत्मा (पुरुष) कूटस्थ नित्य तत्त्व है, वह न तो कर्मों का कर्त्ता है और न ही उसे फलों को वह भोगता है।' क्योंकि यदि वह क्रियायें मानें, तो वह आत्मा एकान्ततः नित्यरूप नहीं माना जा सकता है। इसका निराकरण करते हुए अकलंकदेव ने दसवें ही पद्य में स्पष्ट किया है कि आत्मा कर्मों का अपने अज्ञानभाव के कारण कर्त्ता भी है और उन कर्मों के फल को भोगता भी है। अतः आत्मा कूटस्थ नित्यरूप नहीं माना जा सकता है।

(च) **यौगमत समीक्षा** - आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में यौगमतावलम्बी मानते हैं कि आत्मा वटकणिकामात्र सूक्ष्म है, उनका निराकरण करते हुए ग्रंथकर्त्ता ने **पाँचवें पद्य** में उसे स्वदेहप्रमाण बताया है। अपनी संकोच-विस्तार शक्ति के कारण

आत्मा जैसा शरीर मिलता है, तदनुसार ही छोटे-बड़े आकार में आ जाती है।

(छ) सौगत (बौद्ध) मत समीक्षा - अकलंकदेव ने इस ग्रन्थ में आत्मा के स्वरूप विषयक सैद्धान्तिक विवेचन के प्रसंग में **बौद्धों की** आत्मा विषयक मान्यताओं का सर्वाधिक निराकरण किया है। बौद्धों के दो वर्ग हैं - 1. हीनयान और 2. महायान। **हीनयान** वाले बौद्धों के दो ही सम्प्रदाय हैं - **वैभाषिक और सौत्रान्तिक** तथा **महायान** वाले बौद्धों के भी दो समुदाय हैं - **योगाचार** और **माध्यमिक**। इनमें से **वैभाषिक बौद्ध** क्षणिकवादी हैं, वे प्रत्येक वस्तु की चारक्षणमात्र स्थिति मानते हैं - "**चतुःक्षणिकं वस्तु**"। वे चार क्षण हैं- जन्म, स्थिति, जरा और विनाश। आत्मा को भी ये ऐसा ही क्षणिक मानते हैं। इनकी समीक्षा उस ग्रन्थ के पद्य क्र० 1 में करते हुए अकलंकदेव ने आत्मा के क्षणिकैकान्त का निषेध करते हुए आत्मा को मतिज्ञानादि पर्यायों की अपेक्षा क्षणभंगुर तथा अनंतगुणात्मक द्रव्यपक्ष की अपेक्षा नित्य/अविनाशी तत्त्व बताया है। **सौत्रान्तिक बौद्ध** आत्मा से ज्ञान- सन्तति का उच्छेद (छूट जाना) हो जाने को ही मोक्ष मानते हैं - "**ज्ञानसंतानोच्छेदो मोक्षः।**" उसकी इस मान्यता का निराकरण करते हुए इस ग्रन्थ के पद्य क्र० 4 में आत्मा को कभी भी ज्ञान से शून्य नहीं माना है। **योगाचारवादी** बौद्ध सम्पूर्ण जगत् को ज्ञानाकार मात्र मानते हैं - "**विज्ञानमात्रमिदं भुवनम्।**" बाह्य वस्तुरूप किसी भी पदार्थ की वे सत्ता नहीं मानते हैं। इसी क्रम में वे आत्मा को भी ज्ञान प्रतिभासमात्र मानते हैं, न कि पारमार्थिक वस्तुविशेष। बौद्धों की इस मान्यता की समीक्षा करते हुए अकलंकदेव ने लिखा है कि आत्मा अनादि अनन्त, उपयोग लक्षण, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त पारमार्थिकवस्तु है'। उसका अपना स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल एवं स्वभाव) स्वतंत्ररूप से है। वह प्रतिभासमात्र तत्त्व नहीं है। (पद्य 8)। **माध्यमिक बौद्ध** शून्यवादी है- "**शून्यमिदम्**"। आत्मा को भी वे ज्ञानादिगुण- शून्य तत्त्व मानते हैं; उनकी इस मान्यता की समीक्षा करते हुए आत्मा को अनन्त-धर्मात्मक तत्त्व इस ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है।

आत्मा के इस स्वरूप-निरूपण विषयक सैद्धान्तिक विवेचन के प्रकरण, जो कि इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध भाग है, में आचार्य भट्टाकलंकदेव ने अनेक-विध एकान्त मान्यताओं का निराकरण करते हुए अनेकान्तात्मक आत्मस्वरूप की विवेचना की है। जैसे कि **प्रथम पद्य** में मुक्तैकान्त ओर अमुक्तैकान्त का निषेध करते हुए आत्मा को कर्म से मुक्त (भिन्न) और ज्ञानादि गुणों से अमुक्त (अभिन्न) **मुक्तामुक्त अनेकान्तरूप** बताया है। **द्वितीय पद्य** में ग्राह्यैकान्त एवं अग्राह्यैकान्त का निराकरण करते हुए आत्मा को स्वसंवेदनज्ञान से ग्राह्य एवं इन्द्रियज्ञान से अग्राह्य - इस

ग्राह्याग्राह्य अनेकान्तरूप बताया है। **तृतीय पद्य** में भिन्नैकान्त एवं अभिन्नैकान्त की समीक्षा करते हुए आत्मद्रव्य को ज्ञानादि गुणों के गुणभेद से भिन्न एवं गुणसमुदायत्व से अभिन्न ऐसा **भिन्नाभिन्न अनेकान्तरूप** समझाया गया है। **चतुर्थ पद्य** में चेतनैकान्त एवं अचेतनैकान्त की समीक्षा करते हुए आत्मा को ज्ञानादि चेतनगुणों की अपेक्षा **चेतन** एवं अन्य अस्तित्व-प्रमेयत्वादि सामन्य गुणों की अपेक्षा **अचेतन** - ऐसे **चेतनाचेतन अनेकान्तरूप** प्ररूपित किया है। **पाँचवे पद्य** में व्यापकैकान्त एवं अव्यापकैकान्त की समीक्षा करते हुए ज्ञान के सर्वगत प्रसार की अपेक्षा सर्वव्यापी माना है और प्रदेशों की अपेक्षा 'प्राप्त शरीर के आकारवाला' (स्वदेहप्रमाण) माना है, इस प्रकार **व्यापकाव्यापक-अनेकान्त** की स्थापना की है। **छठवें पद्य** में एकत्वैकान्त एवं अनेकत्वैकान्त की समीक्षा करते हुए आत्मा को अनेकविधज्ञान स्वभाव की अपेक्षा अनेकरूप एवं चेतनत्व की अपेक्षा एकरूप - इस तरह **एकानेकानेकान्तरूप** बताया है। **सातवें पद्य** में वक्तव्यैकान्त एवं अवक्तव्यैकान्त का निषेध करते हुए आत्मा को स्वरूपादि की अपेक्षा वक्तव्य (कहा जाने योग्य) एवं पररूपादि की अपेक्षा अवक्तव्य - ऐसा **वक्तव्यावक्तव्य अनेकान्तरूप** प्ररूपित किया है। **आठवें पद्य** में अस्ति-एकान्त एवं नास्ति-एकान्त की समीक्षा करते हुए स्वधर्म की अपेक्षा अस्तिरूप तथा परधर्म की अपेक्षा नास्तिरूप-ऐसे **अस्ति-नास्ति अनेकान्तरूप** कहा है। तथा इसी पद्य में ज्ञानाकार होने से मूर्तिरूप तथा रूपादिगुणों से रहित होने से अमूर्तिरूप, ऐसे **मूर्ति-अमूर्ति अनेकान्त** की स्थापना की है। इस प्रकार कुल नौ धर्मयुगलों पर एकान्तमतों की समीक्षा एवं अनेकान्त की स्थापना इसमें की गयी है। तथा **नौवें पद्य** में यह सूचित किया है कि इन पूर्वोक्त नौ धर्मयुगल मात्र ही आत्मा नहीं हैं, अन्य भी अनेक धर्म आत्मा में हैं - ऐसा स्पष्टरूप से स्वीकार किया है।

इन धर्मों के कथन के साथ ही आत्मा के बन्ध-मोक्ष (पद्य 9), कर्म एवं कर्मफल के कर्तृत्व-भोक्तृत्व (पद्य 10) आदि दार्शनिक बिन्दुओं से आत्मा का स्वरूप-विवेचन करते हुए जैनदर्शन में मोक्षसाधन के रूप में स्वीकृत सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र (की एकता) का उल्लेख (पद्य क्र० 11 में) करते हुए इन तीनों का स्वरूप (पद्य क्र० 11 से 15 तक) अच्छी तरह स्पष्ट किया है। इस प्रकार प्रारम्भ के पन्द्रह पद्यों में आत्मस्वरूप विषयक सैद्धान्तिक विवेचन आचार्य अकलंकदेव ने प्रस्तुत किया है।

2. आत्मस्वरूप की भावना विषयक आध्यात्मिक वर्णन -

इस प्रकरण के प्रारम्भ में सर्वप्रथम (पद्य 16 में) ग्रन्थकर्त्ता ने बताया है कि

जो आत्मस्वरूपविषयक सैद्धान्तिक विवेचन किया, उसकी पर्यालोचना करते हुए अनुकूल या प्रतिकूल प्रत्येक परिस्थिति में यथाशक्ति राग-द्वेष से रहित आत्मतत्त्व की भावना करना चाहिए। अर्थात् सैद्धान्तिक विवेचन पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं था; बल्कि जब तक आत्मस्वरूप में बारे में भ्रामक जानकारियाँ रहेंगी, तो स्वरूप का निर्णय ही सही रूप में नहीं हो सकेगा - यह उसके वर्णन का मूल लक्ष्य था। अत: पाठक/शिष्य भी इस ग्रन्थ में आत्मा के सैद्धान्तिक विवेचन को पाण्डित्य-प्रदर्शन की उपयोगी सामग्री नहीं मान लें-इस निमित्त यहाँ अकलंकदेव को स्पष्ट करना पड़ा कि इस विवेचन को समझकर प्रत्येक परिस्थिति में शक्ति अनुसार वीतराग आत्मतत्त्व की भावना निरन्तर करनी ही चाहिए। वस्तुत: **यहीं से स्वरूप को संबोधन प्रारम्भ होता है।** इसकी अनिवार्यता का औचित्य सिद्ध करते हुए वे आगे (पद्य 17) लिखते हैं कि आत्मस्वरूप की भावना से चित्त को निर्मल करना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा चित्त कषाय परिणामों से रंगा रहेगा और इसके फलस्वरूप शुद्धात्मा के बारे में शुष्क क्षयोपशम ज्ञान के द्वारा कितना ही निर्णय कर लिया जाये; किन्तु उस निर्मल आत्मतत्त्व की उपलब्धि कभी भी नहीं हो सकेगी। इसकी सिद्धि (चित्त की कषायरञ्जितता दूर करने) के लिए वे जगत् के प्रति अतिमोहासक्ति छोड़कर उदासीन परिणामों के अवलम्बनपूर्वक आत्मतत्त्व की चिन्तन-प्रक्रिया में संलग्न होने की प्रेरणा **पद्य 18** में देते हैं। चूंकि आत्मतत्त्व की ही भावना हो, अन्य विकल्प हावी न हो जायें - इसके लिए आवश्यक है कि यह कार्य निर्णयपूर्वक हों; इसलिए ग्रन्थकार ने **पद्य 19** में स्पष्ट निर्देश दिया कि हेयरूप (आस्रवादि) तत्त्वों एवं उपादेयरूप आत्मतत्त्व के बारे में तात्त्विकरूप से निर्णय करके अन्य ज्ञेयरूप एवं हेयरूप तत्त्वों का आलम्बन छोड़कर निज परम उपादेय तत्त्व का आलम्बन ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पर यह समस्या आती है कि कुछ नवशिक्षित अति उतावले हो जाते हैं और कहते हैं कि "इतना सब कुछ तो कर लिए, किन्तु अभी तक आत्मस्वरूप का प्राप्ति क्यों नहीं हुई; आत्मानुभव क्यों नहीं हुआ?" उनको दृष्टिगत रखते हुए अकलंकदेव आगामी दो पद्यों (पद्य 20-21 में) सावधान करते हैं कि 'हे भव्य! तुम आत्मस्वरूप की प्राप्ति के बारे में अधिक तृष्णा (उतावलापन) मत करो, क्योंकि यह तृष्णा भी तुम्हें मोक्षप्राप्ति में बाधक हैं। जिसकी मोक्ष के विषय भी आकांक्षा नहीं होती है, शांतभाव से जो समस्त इच्छाओं का निरोध करता हुआ आत्मध्यान करता है; वही मोक्ष को समझ सकता हैं, एवं वही मोक्ष का प्राप्त कर सकता है। अत: हे हितचिन्तक' तुम किसी भी विषय में (अतिगृद्धतारूप) इच्छा मत रखो।''

आत्मिक परिणामों की ऐसी निस्पृह स्थिति बनने पर जीव प्रत्येक पदार्थ को वस्तुगतरूप में देखता है, न कि अपने और पराये के रूप में। इसी उपेक्षा भावना का उत्कर्ष प्राप्त होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है (पद्य 22)। यह मोक्षदायिनी उपेक्षाभावना कहीं से भी लानी नहीं है, अपितु यह अपने में स्वयं से ही प्राप्त होती है; इसी कारण वह सुलभ है। किसी भी जगह, किसी भी समय उसे प्राप्त किया जा सकता है। यदि ऐसी चिन्तन-प्रक्रिया जीव की हो जाती है, तो उसके लिए अत्यन्त आदर एवं वात्सल्यपूर्वक अकलंकदेव कहते हैं कि"हे तात ! इस स्वाधीन कार्य का प्रयत्न तुम क्यों नहीं करते हो? (पद्य 23)। छद्मस्थ अवस्था में यद्यपि पर का विकल्प आता है; किन्तु उसके बारे में वे सावधान करते हैं कि"स्व पर दोनों को तुम जान लो; किन्तु उनके किसी के भी प्रति व्यामोह मत करो तथा मात्र अपने आकुलतारहित स्वसंवेद्यस्वरूप में ही स्थित रहो"(पद्य 24)। अपने स्वरूप की प्राप्ति में परपदार्थों के सहयोग की कदापि कोई आवश्यकता नहीं है- यह स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आत्मानन्द की प्राप्ति में अभिन्नषट्कारकों का अति महत्त्वपूर्ण वर्णन कर अध्यात्मशिरोमणि आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द के अभिप्राय को पच्चीसवें पद्य के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। अन्त में ग्रन्थकर्ता ने इस ग्रन्थ के फल का वर्णन करते हुए इसका फल 'परमात्म पद की प्राप्ति' बताया है (पद्य 26)।

इस प्रकार पूर्वार्द्ध में आत्मा का सैद्धान्तिक विवेचन एवं उत्तरार्द्ध में अध्यात्मभावनाप्रधान विवेचन करते हुए अन्यत्र दुर्लभ सन्तुलन को यहाँ अतिलघुकाय ग्रन्थ में जितने प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है - वह भट्ट अकलंकदेव सदृश महान् एवं युगप्रभावक आचार्य द्वारा ही संभव था। दोनों टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में ग्रन्थ के विषय को स्पष्ट करते हुए भी मूलग्रन्थकर्त्ता के गौरव की ही अधिक प्रतिष्ठा की है, अपनी ओर से अधिक कुछ नहीं कहा है। इसके दो कारण हो सकते हैं, एक तो अकलंकदेव जैसे महामनीषी के ग्रन्थ की टीका करते समय टीकाकारों के मन में उनके प्रति अत्यधिक आदर की भावना रही होगी तथा उनके द्वारा कुछ भी अकलंकदेव के अभिप्राय के विरुद्ध न निकल जाये - इस कारण से उन्होंने संक्षेप में व्याख्या की हो सकती है। दूसरे, इस विषय में न्याय-विषयक विवेचन अकलंकदेव प्रभृति आचार्य एवं अध्यात्मविषयक विवरण युगप्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर आचार्य अमृतचन्द्र पर्यन्त एक सुदीर्घ आचार्य-परम्परा द्वारा अतिविशदरूप से किया जा चुका था; अतः यहाँ उन्होंने संक्षेपरुचि प्रकट करते हुए मूलविषय का अर्थकथन मात्र करने की दृष्टि से पदव्याख्या शैली अपनायी है। तथापि दोनों टीकाओं के द्वारा मूल विषय पर्याप्त स्पष्ट हुआ है और इस तरह

ग्रंथकार एवं टीकाकारों की सुन्दर युति 'स्वरूप का सम्बोधन' करने में समर्थ रहीं है।

स्वरूपसम्बोधन विषयक अन्य ग्रन्थ - प्राय: शास्त्रों की रचना भव्य जीवों को सम्बोधित करने के लिए, उन्हें सन्मार्ग पर लगाने के लिए की गयी है। किन्तु आत्मविशुद्धि के लिए आचार्यों ने ग्रन्थरचना- जैसे प्रयोग कम ही किये हैं। अकलंकदेव से पहिले छठवीं शताब्दी ई० के आचार्य योगीन्द्रदेव ने 'योगसार' नामक अपभ्रंशभाषायी ग्रंथ की रचना स्व-संबोधन के लिए की थी। वे लिखते हैं - "**अप्पा संबोहण कया दोहा इक्कमणेण**" अर्थात् 'अपने आपको संबोधित करने के लिए मैंने (योगसार के) दोहों की एकाग्रचित होकर रचना की है।' इस ग्रंथ में वस्तुत: योगीन्द्रदेव ने परमात्मप्रकाश आदि ग्रंथों में प्रभाकर भट्ट नामक शिष्य को समझाये गये आत्मतत्त्व का भावनात्मक वर्णन अपने आपको सम्बोधित करने या स्वगत-कथन शैली में किया है। अपभ्रंश साहित्य में ही पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी ई० में एक 'अप्पसंबोहकव्व' नामक एक अन्य रचना प्राप्त होती है। इसका अन्य नाम ग्रंथकर्त्ता ने 'पिय संबोह' भी दिया है। किन्तु इसमें आत्मसंबोधन जैसी विषयवस्तु एवं वर्णनशैली न होकर दूसरे जीवों के लिए जैनधर्म के आचारपरक सिद्धान्तों को सरल शैली में स्पष्ट किया गया है।

'स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशति' नामक यह रचना अपनी मौलिकता, संक्षिप्त होते हुए भी अर्थगौरव से युक्त होने, विषयान्तर के उल्लेख से रहित होने; सैद्धान्तिक एवं भावनापरक-दोनों पक्षों से समन्वित होने से अपना विशिष्ट स्थान रखती है तथा भाषा, शैली एवं विषयचयन की दृष्टि से भी उक्त दोनों ग्रन्थों से इसकी विशेषता स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है।

– डॉ० सुदीप जैन

श्रीमद् भट्टाकलङ्कदेव-विरचिता

स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशतिः

कन्नड टीकाकार का मंगलाचरण–

श्रियःपति केवलबोध-लोचनम्,
प्रणम्य पद्मप्रभ-बोधकारणम् ।
करोमि कर्णाटगिरा-प्रकाशनम्,
स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशतिः ।।

खण्डान्वय–श्रियःपति=मोक्षलक्ष्मी के जो स्वामी हैं, केवलबोधलोचनम्=जो केवलज्ञानरूप चक्षु के धारी हैं, (तथा) बोधकारणम्=भव्यजीवों के लिए आत्मबोध या तत्त्वबोध में प्रधान निमित्तकारणरूप, पद्मप्रभ=श्री पद्मप्रभ नामक पाँचवें तीर्थंकर परमात्मा को, प्रणम्य=नमस्कार करके, स्वरूपसम्बोधन पञ्चविंशति=स्वरूपसम्बोधन पञ्चविंशति नामक (प्रस्तुत ग्रन्थ का), कर्णाटगिराप्रकाशनम्=कन्नड़ भाषा में प्रकाशन (टीकाकार्य), करोमि करता हूँ।

विशेषार्थ–श्रियःपतिः - अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य– इस अनन्तचतुष्टयरूपी अक्षय-अविनाशिनी सम्पत्ति की प्राप्ति अरिहन्त अवस्था में हो जाती है। जगत् की सम्पत्तिरूपी जो लक्ष्मी कही जाती है, वह क्षणिक है तथा उसके कारण जीवों के परिणामों में प्रायः विकार ही देखा जाता है, इसीलिए अमृताशीति[1] में उस लक्ष्मी की अनेकविध निन्दा की गयी है। किन्तु अनन्तचतुष्टयरूपी लक्ष्मी वीतरागता-सर्वज्ञता के साथ अनन्तसुख-बल की धारक है और सबसे बड़ी बात है कि यह कभी साथ नहीं छोड़ती और न ही कोई विकार उत्पन्न करती है। अतः ऐसी लक्ष्मी का अधिपति होना त्रिलोकपूज्यत्व का कारण है।

केवलबोधलोचनम् - यहाँ 'केवल' शब्द में श्लेष संभावित है; 'केवल' शब्द को 'बोध' से पृथक् लेने पर 'मात्र ज्ञानदृष्टिवाले परमात्मा हैं' - यह अर्थ निकलता है। तथा संयुक्त करने पर 'केवलज्ञान' रूपी दिव्य चक्षुवाले परमात्मा हैं - ऐसा अर्थ होगा। किन्तु 'केवल' पद में कोई विभक्ति-प्रत्यय का प्रयोग नहीं हुआ है, अतः इसे संयुक्तरूप में 'केवलबोधलोचन' (केवलज्ञानरूपी चक्षुवाले) ग्रहण करना ही उपयुक्त है। केवलज्ञान का स्वरूप लोकालोक के समस्त द्रव्यों एवं उनकी

त्रिकालवर्ती पर्यायों को एक समय में युगपत्/हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानने में समर्थ निरावरण अतीन्द्रिय ज्ञान के रूप में आगमग्रन्थों[2] में वर्णित है।

बोधकारणम् – भगवान् को ज्ञान का कारण कहकर यहाँ सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में उनका अद्वितीय निमित्तकारणत्व बताया गया है। अज्ञानीजन तो प्रायः मिथ्याज्ञान के ही हेतु होते हैं, जबकि भगवान् का दर्शन एवं स्मरणमात्र भी ज्ञान का कारण माना गया है–"दर्शनं देवदेवस्य दर्शनं पापनाशनम्।"[3] चूँकि ज्ञान की प्राप्ति के बिना पाप का नाश संभव ही नहीं है, अतः भगवान के निमित्त से पहले ज्ञान की प्राप्ति होगी और फिर ज्ञानपूर्वक आचरण से पाप विनष्ट होंगे –यही भगवान को बोधकारण कहने का अभिप्राय है। यद्यपि भगवान् कोई बुलाकर ज्ञान नहीं देते हैं, परंतु भव्यजीव उनके दर्शन-प्रवचन आदि के द्वारा अपने में सम्यग्ज्ञान प्रकट करते हैं - यही उनका बोधकारणत्व है।

अन्तिम दो पंक्तियों में टीका की भाषा एवं मूलग्रन्थ का नामकरण सूचित किया गया है। इन्हीं में प्रयुक्त 'प्रकाशन' शब्द महत्त्वपूर्ण और सुविचारित प्रयोग है। इसके द्वारा टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि जैसे प्रकाश होने पर वस्तुस्थिति यथावत् स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है, किन्तु प्रकाश किसी भी वस्तु को घटाता-बढ़ाता या फेरबदल करता नहीं है, वह मात्र यथास्थिति को स्पष्ट करता है; उसी प्रकार इस टीका में भी मैं (टीकाकार-महासेनपंडितदेव) मूलग्रंथकर्ता अकलंकदेव के अभिप्राय को मात्र स्पष्ट करूँगा, उस पर अपनी कोई टिप्पणी/अभिप्राय/समीक्षा आदि नहीं दूंगा। यह एक आदर्श एवं गुणी टीकाकार का लक्षण है।

'टीका' शब्द की व्युत्पत्ति है - "टीक्यते गम्यते ग्रन्थार्थोऽनया - इति टीका",[4] अर्थात् जिसके द्वारा मूलग्रन्थ का अर्थ सरलतापूर्वक समझा जा सके, वह 'टीका' है। महासेन पंडितदेव ने भी अपनी 'कर्णाटकवृत्ति' नामक इस टीका में इसे चरितार्थ किया है।

---

1. अमृताशीति; पद्य क्र. 6 से 9 तक।
2. द्र. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2; पृष्ठ 145 से 155 तक।
3. दर्शनपाठ, वृहज्जिनवाणी संग्रह; पृष्ठ 35।
4. आप्टेकृत 'संस्कृत-हिन्दी कोश', पृष्ठ 413।

संस्कृत टीकाकार का मंगलाचरण–

स्वरूपसम्बोधनाख्यग्रन्थस्यानम्य तन्मुनिम् ।
रचितस्याकलङ्केन वृत्तिं वक्ष्ये जिनं नमिम् ।।

खण्डान्वय–तन्मुनिम् जिनं नमिम्=उन मुनि जिनेन्द्र नमिनाथ स्वामी को, आनम्य=नमस्कार करके, अकलङ्केन=श्रीमद् भट्ट अकलंकदेव के द्वारा, रचितस्य=रचे गये, स्वरूपसम्बोधनाख्यग्रन्थस्य='स्वरूपसम्बोधन' नामक ग्रन्थ की, वृत्तिं=वृत्ति (टीका) को, वक्ष्ये=कहूँगा।

विशेषार्थ–मंगलाचरण के कई उद्देश्य[1] माने गये हैं; उनमें से प्रमुख हैं – (1) इष्टदेवता अनुस्मरण, (2) कृतज्ञताज्ञापन, (3) उद्देश-कथन (4) ग्रंथ एवं ग्रंथकार का परिचय इत्यादि। संस्कृत टीकाकार ने प्राय: सभी का अनुपालन किया है। नमिनाथ तीर्थंकर को नमस्कार करके 'इष्टदेवता स्मरण' एवं 'कृतज्ञता-ज्ञापन' – इन दोनों का पालन किया है। "अकलंकेन रचितस्य स्वरूपसम्बोधनाख्य ग्रंथस्य"–इस वाक्यांश के द्वारा मूलग्रंथकर्त्ता एवं ग्रंथ के नामकरण की सूचना दी है तथा "वृत्तिं वक्ष्ये"– इन पदों से 'उद्देश-कथन' किया गया है।

ग्रंथ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में तीन बार 'मंगल' करने का विधान आगमग्रन्थों में किया गया है, और उनका फल निम्नानुसार बताया है – "शास्त्र के प्रारम्भ में 'मंगल' करने से शिष्यलोग 'शास्त्र के पारगामी' होते हैं, मध्य में 'मंगल' करने से 'निर्विघ्न विद्या' की प्राप्ति होती है और अन्त में 'मंगल' करने से 'विद्या का फल' प्राप्त होता है।[2] धवलाकार ने भी त्रिविध मंगल का फल यही माना है, मात्र 'आदिमंगल' का फल 'अध्येता-श्रोता-वक्ता को आरोग्य लाभ' बताया है।[3] यद्यपि इस त्रिविध मंगल की परम्परा का पालन सभी शास्त्रकारों ने नहीं किया है, किन्तु ग्रन्थ के आरम्भ में 'मंगल' करने की परम्परा का पालन प्राय: सभी शास्त्रकारों ने किया है। यहाँ भी 'आदि मंगल' के रूप में यह पद्य आया है तथा 'अन्त्य मंगल' के रूप में अन्तिम दो पद्य ('भट्टाकलंकचन्द्रस्य......' तथा 'भट्टाकलंक-देवै:......') संस्कृत टीकाकार ने दिये हैं।

'वृत्ति' – सामान्यतया 'वृत्ति' एवं 'टीका'–ये दोनों शब्द पर्यायवाची[4] भी माने जाते हैं। आचार्य यतिवृषभ के अनुसार 'सूत्र' के विवरण को वृत्ति या 'टीका' कहा गया है।[5]

जिनागम में मूलसूत्रकर्त्ता तो सर्वज्ञदेव तीर्थंकर परमात्मा को माना गया है

तथा उनके बाद ग्रन्थकर्त्ता गणधरदेव हैं, जो कि तीर्थंकर के वचनों को द्वादशांगमयी श्रुत के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अन्य ग्रन्थकर्त्ता जो आरातीय आचार्य आदि हैं, वे तो उन्हीं के वचनों को प्रस्तुत करते हैं। जैसे कि एक ही गंगाजल को अलग-अलग घटों में स्थापित किया जाता है; वैसे ही मूल दिव्यध्वनि-कथित द्वादशांगमयी जिनवाणीरूपी गंगा के पवित्र वचनोंरूपी जल को विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न ग्रन्थों रूपी घड़ों में भरकर प्रस्तुत किया है।' वे अपनी ओर से नया कुछ नहीं कहते हैं। जल तो वही होता है, मात्र घड़ा नया होता है; इसी तरह मूल जिनवचन तो वे ही हैं, मात्र कहने की शैली एवं शब्दयोजना आदि की मौलिकता आचार्यों की होती है। इसीलिए 'दंसणपाहुड' की टीका में 'अन्य आचार्यों के कथनों को तीर्थंकर परमात्मा के वचनों का अनुवादरूप' माना गया है–

"अन्यमुनीनामुपदेशस्त्वनुवादरूपो ज्ञातव्यः"[6]

धवलाकार वीरसेन स्वामी भी लिखते हैं – "तथोपदिष्टमेवानुवदनमनुवादः''[7] अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा के उपदेशों को दुहराना ही अनुवाद है। सम्पूर्ण ग्रन्थ इस रीति से अनुवादरूप हैं।

पंडितप्रवर टोडरमल जी ने भी लिखा है कि **"केवली कह्या सो प्रमाण है।"**[8] द्वादशांगश्रुत के धारक गणधरदेव एवं श्रुतकेवलियों की परम्परा में शास्त्ररचना करने से ही आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द ने **"सुदकेवलीभणिदं"**[9] कहकर अपनी ऋजुता एवं लघुता प्रकट की है। कवि पम्प अपने आपको 'कुन्दकुन्द आचार्य के अन्वयरूपी नन्दनवन का तोता' कहते हैं।[10] जैसे तोता जो सुनता है, वही दुहरा देता है; उसी प्रकार कुन्दकुन्दान्वय में मैंने (पम्प कवि ने) जो कुछ सुना या पढ़ा है, वही दुहरा रहा हूँ, अपनी ओर से कुछ भी मिलावट नहीं कर रहा हूँ।

---

1. द्र. 'धवला'; 1/1/1, 1/41/10 तथा 'पंचास्तिकायसंग्रह-तात्पर्यवृत्ति', 1/6/8।
2. 'तिलोयपण्णत्ति', 1/28-29।
3. 'धवला', 1/1, 1, 1/40/4
4. प्राकृत-हिन्दी कोष, पृष्ठ 744।
5. कसायपाहुड; 2/1, 22/29/14/8।
6. दंसणपाहुड, गाथा 22 की टीका।
7. धवला, 1/1/111, पृ० 351।
8. मो.मा.प्र., 8/446।
9. समयसार, मंगलाचरण।
10. "कुन्दकुन्दान्वयनन्दनवनशुकं।''

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)– **श्रीमन्नयसेनपडितदेवशिष्यरप्प श्रीमन्ममहासेनपण्डितदेवरु भव्यसार्थसम्बोधनार्थमागि स्वरूपसम्बोधन-पञ्चविंशत्येंब ग्रंथमं माडुत्तमा ग्रंथद मोदलोळु इष्टदेवतानमस्कारमं माडिदपरु–**

उत्थानिका (संस्कृत टीका)– ***श्रीमदकलंकदेवः स्वस्य भावसंशुद्धेर्निमित्तं सकलभव्यजनोपकारिणं ग्रंथेनाल्पमनल्पार्थं स्वरूपसम्बोधनाख्यं ग्रन्थमिमं विरचयंस्तदादौ मुख्यमंगलनिमित्तं परंज्योतिस्वरूप-परमात्मानं नमस्कुर्वन्निदमाह–***

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिभिः[1] ।
अक्षयं परमात्मानं, ज्ञानमूर्तिं नमामि तम् ।। 1 ।।

कन्नड़ टीका–(नमामि) पोडवडुवें (कम्) आवंगे? (तम्) आतंगे (कथंभूतम्) एंतप्पंगे? (परमात्मानम्) समस्तवस्तुगळोळुत्कृष्टनप्पातंगे (पुनरपि कथंभूतम्) मत्तमेंतप्पंगे? (अक्षयम्) केडिललदंगे, (पुनरपि कथंभूतम्) मत्तमेंतप्पंगे? (ज्ञानमूर्तिम्) ज्ञानस्वरूपमप्पंगे, (यः कथंभूतम्) आवनानुमोर्वनेंतप्पं? (मुक्तामुक्तैकरूपः) मुक्तामुक्तैकरूपं, (कैः) आवुदरिंदं मुक्तस्वरूपं, (कर्मभिः) ज्ञानावरणादिकर्मगळिंदं (कैः) आवुदरिंदं? (अमुक्तरूपः) अमुक्तरूपं (संविदादिभिः) ज्ञानादिगुणंगळिंदं ।

संस्कृत टीका–*यः (कर्मभिः) विजातीयज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मभिश्च (संविदादिना) निजस्वरूपज्ञानादिगुणसमूहेन यथासंख्यं मुक्तामुक्तश्चासौ (एकरूपः) एकमेकस्वरूपं यस्यासावेकरूपश्च मुक्तामुक्तैकरूपः (तं ज्ञानमूर्तिम्) ज्ञानमेवमूर्तिर्यस्यासौ तं ज्ञानमूर्तिं (अक्षयम्) प्रादुर्भूतानन्तचतुष्टस्वरूपस्य क्षयरहितत्वेनाक्षयस्तं (परमात्मानम्) परमश्चासावात्मा च परमात्मा, तं परमात्मानम् (नमामि) नमस्करोमि ।*

उत्थानिका (कन्नड टीका)–श्रीमान् नयसेन पण्डितदेव के शिष्य श्रीमन्महासेन पण्डितदेव भव्यसमूह को सम्बोधनार्थ (रचे गये) 'स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशति' (नामक) इस ग्रंथ की (टीका) रचना करते हुए, इस ग्रंथ के प्रारम्भ में इष्टदेवता को नमस्कार करते हैं।

उत्थानिका (संस्कृत टीका)–श्रीमदकलंकदेव अपनी भावसंशुद्धि के निमित्त सम्पूर्ण भव्यजनों के लिए उपकारी इस संक्षिप्त, किन्तु अनल्प अर्थवाले 'स्वरूप सम्बोधन' नामक ग्रन्थ की रचना करते हुए, उसके प्रारम्भ में मुख्य मंगल के निमित्त अद्वितीय ज्योतिस्वरूप परमात्मा को नमस्कार करते हुए यह कहते हैं।

---

[1] 'संविदादिना' इति सं. प्रतिपाठः।

खण्डान्वय–य:=जो, कर्मभि:=कर्मों की अपेक्षा से, मुक्त=मुक्तरूप है, (तथा) संविदादिभि:=ज्ञानादि (स्वकीय) गुणों से, अमुक्त=अमुक्त-अभिन्नरूप है, एकरूप:=(ऐसा) मुक्तामुक्त/भिन्नाभिन्न एकरूपवाला है। तम्=उस, ज्ञानमूर्तिम्=ज्ञानमूर्ति, अक्षयम्=अक्षय/अविनाशी, परमात्मानम्=परमात्मा को, नमामि=नमस्कार करता हूँ।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड टीका)–(मैं) नमस्कार करूँगा; किसको? उनको, कैसे हैं वह? समस्त वस्तुओं में श्रेष्ठरूप हैं। और फिर किस प्रकार के हैं? जिनका कभी नाश नहीं हो ऐसे हैं; और किस प्रकार के हैं? ज्ञानस्वरूपी हैं जो; और किस प्रकार के हैं? मुक्त और अमुक्त-एकरूप वाले हैं। किनसे मुक्तरूप हैं? ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से। और किनसे अमुक्तरूप है? ज्ञानादि गुणों से अमुक्तरूप अर्थात् युक्त हैं।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)––जो कर्मों से अर्थात् ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों से, ज्ञानादि से अर्थात् निजस्वरूप ज्ञानादि गुणों के समूह से क्रमश: मुक्त और अमुक्त एकरूप हैं। एक ही है स्वरूप जिसका, वह एकरूप है, ऐसा मुक्तामुक्तैकरूप है जो;'ज्ञाममूर्ति'अर्थात् ज्ञान ही है मूर्ति (स्वरूप/आकार) जिसका वह ज्ञानमूर्ति है; 'अक्षय' अर्थात् अनन्तचतुष्टय स्वरूप के उत्पन्न हो जाने से क्षय-विनाश रहितपने के कारण जो अक्षय है, उस परमात्मा को जो परम (उत्कृष्ट) भी है आत्मा भी है; उस परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ–यह पद्य मूलग्रन्थकार का 'मंगलाचरण' है। इसमें अकलंकदेव ने चार विशेषणों से युक्त 'परमात्मतत्त्व' को नमस्कार कर 'इष्टदेवता-समरण' एवं 'नास्तिकत्व-परिहार' - इन दो उद्देश्यों की पूर्ति की है।

आत्मा के अवस्थागत तीन भेद माने गये हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा।[1] किन्तु यहाँ प्रयुक्त 'परमात्मा' पद इन अवस्थागत भेदों में वर्णित परमात्मा का वाचक न होकर निज त्रिकाली शुद्धात्मा, जो कि साधक जीव के लिए तीनों लोकों एवं तीनों कालों में सर्वोत्कृष्ट परम उपादेय पदार्थ है, उसे 'परमात्मा' शब्द के द्वारा अकलंकदेव ने बताया है। दोनों टीकाकारों ने भी इसी अर्थ की पुष्टि की है। निज शुद्धात्मतत्व की आराध्यदेव के रूप में वन्दना कर मंगलाचरण करने की परम्परा अध्यात्मग्रन्थों में रही है। 'समयसार' की–'आत्मख्याति' टीका के 'मंगलाचरण' में आचार्य अमृतचन्द्र ने **"नम: समयसाराय"** कहकर शुद्धात्मतत्त्व की वन्दना की है।

इस परमात्मारूप शुद्धात्मतत्त्व के तीन विशेषण ग्रंथकार ने दिये हैं - (1) कर्मों से मुक्तरूप एवं संविदादि से अमुक्तरूप एक, (2) अक्षय और (3) ज्ञानमूर्ति। इनका वैशिष्ट्य निम्नानुसार है -

(1) 'कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय' की अपेक्षा आत्मा त्रिकाल ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से मुक्त परिशुद्ध तत्त्व है।[2] चूंकि बन्ध का कारण स्निग्ध (चिकनापन) एवं रूक्ष (रूखापन) गुण कहे गये हैं - **"स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः।"**[3] चूंकि ये दोनों गुण पुद्गल द्रव्य के हैं, अतः आत्मा में इनका नितान्त अभाव होने से वस्तुगतरूप से भी आत्मा कर्म से बंध ही नहीं सकता है। अतः आत्मा कर्म से मुक्त ही है - यह सार्थक कथन है।

वैशेषिक लोग आत्मद्रव्य को ज्ञानादि गुणों से वस्तुतः भिन्न मानते हैं तथा 'समवाय' नामक पदार्थ/सम्बन्ध से आत्मा का ज्ञानवान् होना स्वीकार करते हैं। उनकी इस कल्पना का निराकरण कर **"अहमेक्को खलुसुद्धो दंसण-णाणमइओ सदारूवी"**[4] - इस आगमवचन की पुष्टि करते हुए आत्मा को ज्ञानादि चेतनगुणों से स्वरूपतः अभिन्न बताया है।

यह भ्रम न हो जाये कि 'कर्मों से भिन्न कोई अन्य आत्मा है, तथा ज्ञानादि से अभिन्न कोई अन्य आत्मा है; अतएव 'एकरूप' पद का सुविचारित प्रयोग किया गया है।

(2) बौद्धों में 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' की मान्यता के अनुसार समस्त पदार्थों को क्षणभंगुर माना गया है, उनकी इस एकान्त मिथ्यामान्यता की समीक्षा करते हुए यहाँ आत्मा के साथ 'अक्षय' (अविनाशी) विशेषण का प्रयोग किया गया है। यद्यपि पर्यायदृष्टि से क्षणभंगुरता जैनदर्शन ने भी स्वीकार की है, किन्तु द्रव्यदृष्टि से उसने सभी पदार्थ को अविनाशी ही माना है। तथा 'अक्षय' स्वरूप का विश्वास हुये बिना आत्मानुभूति का पुरुषार्थ ही प्रवर्तित नहीं होता है। अतः 'अक्षय' कहकर पर्यायों की क्षणभंगुरता से परे अपरिवर्तनशील ध्रुव नित्य आत्मतत्त्व है[5] - यह सन्देश साधक जीव को संशयरहित होकर पुरुषार्थ करने के लिए दिया गया है।

(3) यद्यपि आत्मा में अस्तित्व आदि सामान्यगुण, अनेकों धर्म एवं शक्तियाँ हैं[6], किन्तु आत्मा का पहिचान, उसका वैशिष्ट्य, उसका गौरव 'ज्ञान' से ही है। अतएव युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द ने भी स्पष्टरूप से घोषित किया - **"आदा णाणपमाणं"**[7] - अर्थात् आत्मा ज्ञानप्रमाण है; यानि जितना ज्ञान स्वभाव है, उतना ही आत्मा है। गुणभेद के विकल्पों से निवृत्ति एवं आत्मा को निर्गुणात्मकता

से बचाने के लिए 'ज्ञानमूर्ति' विशेषण का प्रयोग ग्रंथकर्त्ता ने किया है। समयसार के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने आत्मा को 'ज्ञानघन' अर्थात् 'ज्ञान का घनपिण्ड' - ऐसी उपमा अनेकत्र[8] दी है। कहीं-कहीं उन्होंने आत्मा को 'ज्ञानसिंधु',[9] 'ज्ञानज्योति',[10] एवं 'ज्ञानपुञ्ज',[11] भी कहा है। मंगलाचरण में उन्होंने उसे 'अनेकान्तमयीमूर्ति' भी कहा है।[12] 'समाधिशतक' में आत्मा को 'ज्ञानविग्रह' कहकर उसे ज्ञान के ही आकारवाला अथवा ज्ञानशरीरी आचार्य पूज्यपाद ने बताया है। 'विग्रह' शब्द का अर्थ उन्होंने ही 'सर्वार्थसिद्धि' टीका में "विग्रहो शरीरः" –किया है। अतः आत्मा 'ज्ञानशरीरी' या 'ज्ञानाकार' है–यह तथ्य जैनाचार्यों द्वारा अनेकत्र पुष्ट हुआ है। यहाँ आत्मा को 'ज्ञानमूर्ति' कहकर उसे 'शुद्ध जीवास्तिकाय' के रूप में प्रतिपादित किया है।

यहाँ प्रयुक्त 'परमात्मा' शब्द निजशुद्धात्मा का वाचक है। आचार्य योगीन्द्र देव ने भी 'परमात्मप्रकाश' में लिखा है कि "जो परमात्मा है, वही मैं हूँ; जो तीन लोकों में ध्यान करने योग्य 'जिन' है, वह वस्तुतः आत्मा ही है।[13]

---

1. मोक्खपाहुड, 4, समाधितन्त्र, 4; परमात्मप्रकाश, 1/11।
2. द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्र, गाथा 190।
3. तत्त्वार्थसूत्र; 5/33।
4. समयसार, गाथा 38।
5. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका; गाथा 27।
6. द्र. 'समयसार-आत्मख्याति टीका' का परिशिष्ट।
7. प्रवचनसार, गाथा 1/27।
8. समयसार कलश 6, 13, 15, 48 एवं 123 तथा गाथा 73 की आत्मख्याति टीका में।
9. समयसार कलश, 32।
10. वही, कलश, 46, 99।
11. वही, कलश, 193।
12. वही, कलश, 2।
13. योगसार, पद्य 22, 37।

उत्थानिका (कन्नड टीका)—'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यते' एंदु आत्मस्वभावदल्लि चार्वाकादिगळु पूर्वपक्षमं माडलु उत्तरश्लोकमं पेळ्दपरु–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—*परमात्मस्वरूपं प्राप्तुमिच्छन् योगी निर्विकल्पस्वरूप परमात्मानं नत्वा, तच्छुद्धात्मस्वरूपं प्ररूपितवानित्यर्थः। ईदृशात्मस्थितिं वक्तुमाह–*

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगो यः[1] क्रमाद्धेतुफलावहः।
यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः[2] स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकः।। 2।।

कन्नड़ टीका–(अस्ति) उळ्ळं (कः) आवं (सकाश) (आत्मा) आ आत्मं, (यः कथंभूतः) आवनानुमोर्वनितप्पं? (सोपयोगः) ज्ञान-दर्शनोपयोगदोळ् कूडिदं, (यः पुनरपि किं विशिष्टं) आवनानुमोर्व मत्तमेंतप्पं? (हेतुफलावहः) कारणकार्यरूपदिदं परिणमिसुवं। (कस्मात्) आवुदरत्तणिं? (क्रमात्) क्रममनाश्रयिसि। (कुतः) अदु कारणमागि? (स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकः) पूर्वाकारःपरिहार, उत्तराकारोत्पत्तिस्थितिस्वभावनप्पुदरिदं (भूयोऽपि कीदृग्भावः) मत्तमेंतप्पं? (अग्राह्यः) इन्द्रियज्ञानक्के विषयनल्ल (पुनरपि कीदृशः) मत्तमेंतप्पं? (ग्राह्यः) स्वसंवेदनादि ज्ञानक्के गोचरं, (पुनरपि कीदृशः) मत्तमेंतप्पं? (अनाद्यन्तः) मोदलुं कडेयुमिल्लदं।

संस्कृत टीका–*(यःसोपयोगः) सहित-ज्ञानदर्शनोपयोगः (क्रमात्) क्रमेण (हेतुफलावहः) हेतुः कारणञ्च, फलं कार्यञ्च-हेतुफले, ते अवहति-धरतीति हेतुफलावहः; (ग्राह्यः) ज्ञानेन ज्ञातव्यः (ग्राही) वस्तु-स्वरूप-वेदिता (अनाद्यन्तः) आदिश्चान्तश्चाद्यन्तौ, न विद्येते आद्यन्तौ यस्यासावनाद्यन्तः। (स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकः) स्थितिश्च ध्रौव्यञ्च, उत्पत्तिश्चोत्पादनं, व्ययश्च विनाशः स्थित्युत्पत्तिव्ययास्त एवात्मस्वरूपं यस्यासौ स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः। स एवंविधः स्वसंवेदनप्रत्यक्षः आत्मा (अस्ति) विद्यते। जीवाभावं वदतां शून्यवादिनां मतं निराकृत्य अप्रतिहतस्याद्वादवादिमतानुसार्युपयोगलक्षण-लक्षितात्मास्तित्वं समर्थितमित्युक्तं भवति।*

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—'धर्मी के होने पर ही धर्मों का चिन्तन किया जाता है'–इस प्रकार आत्मस्वभाव में चार्वाकादिकों को पूर्वपक्ष बनाकर उत्तर (रूप) श्लोक कहते हैं।

---

[1] 'सोपयोगोऽयं' - इति सं. प्रति पाठः।

[2] 'ग्राह्यो ग्राह्यनाद्यन्तः' - इति सं. प्रति पाठः।

उत्थानिका (संस्कृत)–परमात्मस्वरूप की प्राप्ति की इच्छा करते हुये योगी ने निर्विकल्पस्वरूप परमात्मा को नमस्कार करके उस शुद्धात्मस्वरूप का प्ररूपण किया- ऐसा भाव है। ऐसी आत्मस्थिति की विवक्षा से कहते हैं।

खण्डान्वय:–स:=वह, आत्मा=आत्मतत्त्व, सोपयोग:=उपयोगसहित, अस्ति=विद्यमान है; य:=जो कि, क्रमाद्=क्रमश: हेतुफलावह:=कारण और कार्यरूप है। य:=जो, ग्राह्य:=ग्रहण करने योग्य है, अग्राह्य=ग्रहण नहीं किया जा सके-ऐसा है; अनाद्यन्त=आदि अन्त से रहित है (तथा) स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मक:=स्थिति-ध्रुवता, उत्पत्ति एवं विनाशरूप है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–विद्यमान है, कौन (विद्यमान है)? वह आत्मा। वह कैसा है? ज्ञान-दर्शनोपयोग से युक्त है। और फिर कैसा है? कारण-कार्यरूप से फल दे रहा है। किस प्रकार से? क्रमानुगतरूप से, किस कारण से? पूर्व आकार का विनाश, उत्तर आकार की उत्पत्ति और दोनों में द्रव्यत्व की स्थिति रहने के कारण से। और किस प्रकार का है? स्वसंवेदन ज्ञान के गोचर है। और किस प्रकार का है? जिसका आदि-अन्त न हो (ऐसा है)।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–जो सोपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शनोपयोग से सहित, क्रम से, हेतु अर्थात् कारण, फल अर्थात् कार्य-इन दोनों को धारण करता है, वह हेतुफलावह' है। (वह) ग्राह्य अर्थात् ज्ञान से जानने योग्य है, ग्राही अर्थात् वस्तुस्वरूप का वेदयिता है। 'अनाद्यन्त' अर्थात् आदि और अन्त जिसके विद्यमान नहीं हैं, वह अनाद्यन्त है। 'स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मक' अर्थात् स्थिति अर्थात् ध्रौव्य, उत्पत्ति अर्थात् उत्पादन, व्यय अर्थात् विनाश – ऐसे स्थिति-उत्पत्ति-विनाश ही जिस आत्मा के स्वरूप हैं, वह स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मक है। वह यह इस प्रकार का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा है–विद्यमान है। जीव के अभाव को बताने वाले शून्यवादियों के मत का निराकरण कर अप्रतिहत स्याद्वाद-वादी सिद्धान्त के मत के अनुसार उपयोग लक्षण से लक्षित आत्मा का अस्तित्व समर्थित हुआ, ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ–यह पद्य वास्तव में 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करता है। इसमें आत्मा का अस्तित्व, उसका लक्षण, उसके कर्तृत्व-भोक्तृत्व, प्रमातृ-प्रमेयत्व एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकत्व – इन सबकी मात्र दो पंक्तियों में सिद्धि की गयी है।

लौकायत मतवादी (चार्वाक) चेतनाधिष्ठान आत्मा की स्वतन्त्र वस्तु के रूप

में सत्ता ही नहीं मानते हैं; वे उसे पृथिवी-जल-अग्नि और वायु- इन चार भूतों के संयोग से उत्पन्न अवास्तविक प्रतिभास मानते हैं। जैसे हल्दी और चूना के संयोग से लालिमा उत्पन्न होती है, किन्तु वह लालिमा न तो चूने का स्वरूप है और न ही हल्दी का। वह तो दोनों के संयोगज वर्ण विकार है, वैसे ही वे चैतन्य की चारभूतों से उत्पत्ति मानते हैं।[1] उनकी इस मान्यता का खंडन करने के लिए प्रस्तुत पद्य में **"सो आत्मा अस्ति"** इस वाक्यांश का प्रयोग किया गया है।[2]

तत्वार्थसूत्रकार ने आत्मा का लक्षण **"उपयोगो लक्षणम्"**[3] किया है अर्थात् ज्ञानदर्शनात्मक चैतन्य का अनुविधायी परिणाम ही 'उपयोग' है[4] और यह 'उपयोग' ही आत्मा की वास्तविक पहिचान/लक्षण है। **'सो आत्मा अस्ति'** : यह वाक्यांश जहाँ आत्मा के बारे में 'उद्देश कथन' करता है, वहीं **'सोपयोगः'** यह पद आत्मा का लक्षण बताता है। चूंकि 'उद्देश' एवं 'लक्षण' के कथन के बिना वस्तु का निर्णय नहीं होता है, अतः प्रथमतः आत्मा के विषय में उद्देश एवं लक्षण का कथन किया गया है।

कारण और कार्य की मीमांसा में प्रायः भिन्नता में कर्तृत्व के अहंकार एवं परकृत उपकार की दीनता समाविष्ट होती है। किन्तु कारण–कार्य का नियामक तत्त्व एक होने की स्थिति में दोनों की संभावना न होकर माध्यस्थ भाव उत्पन्न होता है। जैसे अग्नि 'कारण' और उसकी उष्णता 'कार्य' की स्थिति में अभिन्न अधिकरण है, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान का कारण-कार्यत्व भी साम्यभाव का हेतु है। इस कारण-कार्य परम्परा के चार स्तर हैं :- (1) निमित्त - नैमित्तिक (2) उपादान - उपादेय, (3) अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय - अनन्तर उत्तरक्षणवर्ती पर्याय तथा (4) तत्समय की योग्यता - कार्यरूप परिणति।[5] यहाँ पर इनमें से तृतीय स्तर विवक्षित है।

शुद्धात्मतत्त्व स्वसंवेदनज्ञानगम्य होने से 'ग्राह्य' या 'प्रमेय' रूप है तथा इन्द्रियज्ञान के द्वारा अगम्य होने से 'अग्राह्य' भी है; साथ ही स्वपरप्रकाशक-शक्ति के द्वारा परपदार्थों का भी ज्ञान होने से वह उनका 'ज्ञाता' या 'ग्राहक' (ग्राही) भी है। यह त्रिविधत्व आत्मा में अविरोधरूप से युगपत् है।

यद्यपि अध्यात्म में पर्यायदृष्टिरहित त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व की ही प्रधानता होती है,[6] किन्तु उसका अर्थ कोई सांख्य के पुरूष की भाँति कूटस्थ नित्य पदार्थ के रूप में कोई न निकाल ले; इसलिए अकलंकदेव ने उसे **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक** कहकर नित्यानित्यात्मक या द्रव्य-पर्यायात्मक 'सत्'[7] पदार्थ के रूप में बताया है। वस्तुतः इस अनेकान्तदृष्टि के बिना जैनदर्शन की अध्यात्मदृष्टि में जीव का

स्वरूप सांख्य के 'पुरूष' से अत्यधिक साम्य रखता है। अतएव महान् अध्यात्मवादी आचार्य कुन्दकुन्द को भी आध्यात्मिक ग्रंथराज समयसार[8] में भी सांख्य के पुरूष का खंडन कर अध्यात्मदृष्टि से प्रतिपादित शुद्धात्मतत्त्व की वस्तुगत अनेकान्तात्मकता का समर्थन किया है।

सांख्य का ही खंडन यहाँ मूल लक्ष्य नहीं था। अध्यात्मवाद के जोर में कुछ अज्ञानीजन भी द्रव्य और पर्याय को सर्वथा पृथक् मानने लगते हैं; तथा "पर्यायमूढ़ परसमय" की उक्ति का अर्थ है- **'पर्याय का अस्तित्व मानने से भी** जिन्हें अन्यमत की आशंका होने लगती है'। उनका भी यहाँ निराकरण कर दिया कि अध्यात्म में दृष्टि से पर्याय का मोह छुड़ाने के लिए **'पज्जयमूढा हि परसमया'**[9] कहा था, न कि पर्याय को ही निकाल फेंकने या सर्वथा भिन्न मान लेने के लिए। अतः जैनों में छुपे छद्मसांख्यों किंवा निश्चयाभासियों का मिथ्यात्व छुड़ाने के लिए भी यह पद अत्यन्त सार्थक एवं प्रकरणोचित है।

पर्याय की नित्य परिवर्तनशीलता के कारण उसका चिन्तन करने वाला चित्त भी चंचल ही रहता है, एकाग्र नहीं हो पाता है। तथा एकाग्रचित्त हो विकल्पजाल की निवृत्ति के बिना ध्यान संभव नहीं है और ध्यान के बिना मोक्ष नहीं होगा। अतएव पर्यायदृष्टि छुड़ाने का जोर अध्यात्मवादियों ने दिया है। परन्तु वह पर्याय-निषेध वस्तुगत नहीं था, अपितु प्रयोजन की सिद्धि के लिए ऐसी कहा गया था।

---

1. 'बृहदारण्यकोपनिषद्', 2/4/12।
2. 'समयसार' की भाषा वचनिका में भी पं. जयचंद जी छाबड़ा ने ऐसा ही प्रयोग किया है।
3. तत्त्वार्थसूत्र; 2/8।
4. सर्वार्थसिद्धि, 2/8/271।
5. द्र० पंचास्तिकाय गा. 16, 27, 109, 124; प्रवचनसार गा. 35; नियमसार गा. 10; मूलाचार गा. 5/36; भगवतीसूत्र-2/10; तथा पंचाध्यायी गा. 30 इत्यादि।
6. भावपाहुड, गा. 59।
7. "उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्" - तत्त्वार्थसूत्र, 5/30।
8. समयसार, गा. 116 से 125 तक।
9. प्रवचनसार, गाथा 93।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–इंतनंतज्ञानादिगुणसमन्वितनप्प आत्मसद्भावं भव्यजीवंगळ्गे प्रतिपादिसि यौग-सौगतादिगळंतादडे आत्मनत्तणिं ज्ञानं भिन्नमो अभिन्नमो येंदु पूर्वपक्षमं माडिदवरिगे परिहारार्थवागि पेळल्वेडि बंदुदु उत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)–*निजधर्मज्ञानादात्मनो भिन्नाभिन्नत्वं कथमिति चेदाह–*

ज्ञानाद् भिन्नो न नाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्तितः।। 3।।

कन्नड़ टीका–(भिन्नो न) आत्मं सर्वथा भिन्ननल्लं (अभिन्नो न) सर्वथा अभिन्ननल्लं, आवुदरत्तणिं? (ज्ञानात्) ज्ञानदत्तणिंदं। (तर्हि कीदृशः) अन्तादेन्तप्पं? (भिन्नाभिन्नः) ज्ञानदत्तणिं भिन्नमुं अभिन्नमुमप्पं, (कथम्) एंतु? (कथंचन) आवुदानुमोंदु सञ्ज्ञादिसद्भूतव्यवहारनयदिं भिन्नं, शुद्धनिश्चयनयदिनभिन्नं। (कस्मात्) आवुदु कारणदिंदं? (ज्ञानं पूर्वापरीभूतम्) अन्वितमागि कारणकार्यरूपमप्पुदरिं (सोऽयमात्मेति) आ आत्मनेंदिंतु (कीर्तितः) पेळेपट्टुदु।

संस्कृत टीका–*(ज्ञानात्) निजधर्मज्ञानात् (आत्मा) जीवः (भिन्नः) पृथक् (न) न च (अभिन्नः) ज्ञानादभिन्नो (न) न च (कथंचन) केनचित् प्रकारेण (भिन्नाभिन्नः) ज्ञानाद् भिन्नोऽभिन्नश्च स्यात्। (पूर्वापरीभूतम्) ज्ञेयापेक्षया पूर्वञ्च तदपरञ्च तत् पूर्वापरं, न पूर्वापरमपूर्वापरं, अपूर्वापरमिदानीं पूर्वापरं भूतं–पूर्वापरीभूतं (ज्ञानम्) ज्ञानमेव (सः) तच्चैतन्यस्वरूप आत्मा, इत्येवं (कीर्तितः) प्रतिपादितः। तेन कारणेन गुण-गुणिनो द्रव्यकृतभेदराहित्येन ज्ञानादभिन्नश्च, तथा भवन्नपि गुण-गुणीति-विकल्परूपेण वक्तव्यः संज्ञादिभेदेन ज्ञानाद्भिन्नश्च भवतीति तात्पर्यार्थः।*

उत्थानिका-(कन्नड़) इस प्रकार अनन्तज्ञानादिगुणों से समन्वित आत्मा के अस्तित्व को भव्य जीवों के लिए प्रतिपादित करके यौग-सौगत (बौद्ध) आदि मतों का निराकरण करने के बाद आत्मा ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न है? इस तरह के पूर्वपक्ष को मानने वालों (वैशेषिकों आदि) के मत का निरसन करने के लिए प्रतिपादन करता हुआ आगामी (यह) श्लोक आया है।

उत्थानिका-(संस्कृत)–ज्ञानरूप निजधर्म से आत्मा का भिन्नत्व और अभिन्नत्व कैसे है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं।

खण्डान्वय–ज्ञानात्=ज्ञान से, (आत्मा) भिन्नो न=सर्वथा भिन्न नहीं है,

(और) अभिन्नो न=सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। कथंचन भिन्नाभिन्न:=कथंचित् भिन्न और अभिन्न-उभयस्वरूप है। पूर्वापरीभूतं=पूर्वापरीभूत (जो) ज्ञानम्=ज्ञान (है), सो=वही, अयम्=यह, आत्मा=आत्मा (है)-इति=ऐसा, कीर्तित:=कहा गया है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–विद्यमान है, कौन? वह आत्मा, कैसा है वह आत्मा? ज्ञान-दर्शनोपयोग से युक्त है, वह और कैसा है? कारण-कार्यरूप से परिणमित हो रहा है। किस प्रकार से? क्रमानुगत रूप से; उस कारण से पूर्व आकार का विनाश, उत्तर (नवीन) आकार की उत्पत्ति और दोनों में द्रव्यत्व की स्थिति के रहने के कारण से। और किस प्रकार का है? इन्द्रियों के ज्ञान का विषय नहीं है। और किस प्रकार का है? स्वसंवेदन ज्ञान के गोचर है, और किस प्रकार का है? जिसका आदि-अन्त नहीं है ऐसा है।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–ज्ञान से अर्थात् निजधर्मरूप ज्ञान से जीव पृथक् नहीं है और ज्ञान से अभिन्न भी नहीं है। किसी प्रकार (अपेक्षा) से ज्ञान से (आत्मा) भिन्न भी है और अभिन्न भी है। ज्ञेय की अपेक्षा जो पूर्व भी है, अपर भी है; वह पूर्वापर है ऐसा पूर्वापर जो नहीं है, वह अपूर्वापर है; अपूर्वापर इस समय पूर्वापर हो गया है। यही पूर्वापरीभूत ज्ञान ही वह चैतन्यस्वरूप आत्मा है – ऐसा प्रतिपादित किया गया है। इस कारण से गुण-गुणी के द्रव्यकृत भेद के रहितपने से (वह आत्मा) ज्ञान से अभिन्न है और वैसा होते हुए भी गुण-गुणी-ऐसे विकल्प (भेद) रूप से कही जाने वाली संज्ञा आदि के भेद से ज्ञान से भिन्न भी होता है – यह तात्पर्यार्थ है।

विशेषार्थ–प्रत्येक द्रव्य में अनन्तगुण होते हैं और ये गुण दो तरह के होते हैं - सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण सभी चेतन-अचेतन द्रव्यों में समानरूप से पाये जाते हैं, अत: उनके आधार पर किसी भी द्रव्य का विशिष्ट स्वरूप नहीं जाना जा सकता है। इसी प्रकार आत्मा में पाये जाने वाले अस्तित्व प्रमेयत्व-प्रदेशत्व आदि सामान्यगुणों के आधार पर आत्मा को 'द्रव्य' रूप में तो समझा जा सकता है; किन्तु उसे चेतनाविशिष्ट चेतनद्रव्य के रूप में इनके कारण नहीं कहा जा सकता है। चूंकि चेतना का स्वरूप ही दर्शन-ज्ञान प्रधान है - **"दर्श-ज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि"**;[1] अत: इन प्रमुख चेतनगुणों के अतिरिक्त अन्य गुणों के आधार पर आत्मा को 'चेतनद्रव्य' के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता है – इस अभिप्राय से यहाँ आत्मा को 'अचेतन' कहा है। साथ ही इन प्रमेयत्वादि अचेतनगुणों के विद्यमान रहते हुए भी ज्ञान-दर्शन आदि

चेतनगुणों के वैशिष्ट्य से आत्मा 'चेतन' रूप भी युगपत बना हुआ है, उसमें कोई क्षेत्र या कालगत भेद नहीं है।

आत्मा का चेतनाचेतनात्मकत्व अनेकान्तदृष्टि से बतलाकर वैशेषिक की इस मिथ्यामान्यता का निराकरण कर दिया है कि 'आत्मा स्वरूपतः अचेतन द्रव्य है तथा समवाय-सम्बन्ध के द्वारा उसमें चेतना आ जाने से उसे 'चेतन' कहा जाता है।'[1] आत्मा को स्वरूपतः जड़ मानकर चेतना के समवाय से चेतन कहने वाले वैशेषिकों का आत्मा वस्तुतः जड़ ही रहेगा; ज्ञानी नहीं हो सकता है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि अन्य किसी समवाय-द्रव्य के सहयोग से आत्मा ज्ञानी नहीं है, वह स्वरूपतः ही ज्ञानी है।[3] ज्ञान के साथ आत्मा का तादात्म्य है।[4]

आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने वैशेषिकों की समवायकल्पना का निराकरण करते हुए लिखा है कि 'समवाय एक नित्य-व्यापक पदार्थ है, अतः चेतना का समवाय सम्बन्ध जैसे आत्मा के साथ होगा, वैसे ही आकाशादि के साथ भी समवाय के रहने के कारण आकाश आदि को भी चैतन्यवान् मानना होगा तथा आकाश को भी "मुझमें ज्ञान है" - ऐसी प्रतीत माननी पड़ेगी।[5] किन्तु "मैं चेतन हूँ" - ऐसी प्रतीति मात्र आत्मा को ही होती है, अतः आत्मा ही कथंचित् चेतनस्वरूप है।[6]

समवाय की परिकल्पना में 'अनवस्था दोष' आता है, क्योंकि आत्मा चेतना के समवाय से चैतन्यवान् हुआ, तो चेतना किसके समवाय से चेतन हुई? यह प्रश्न अनवस्था को उपस्थित करता है। अतः अग्नि के उष्ण गुण की तरह आत्मा चैतन्यस्वरूप भी स्वभावतः है, समवाय से नहीं है।[7]

---

1. कविवर जयचन्दकृत 'बारहभावना', धर्मभावना।
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 178।
3. पंचास्तिकाय, गाथा 49।
4. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/1/9।
5. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 196-198।
6. वही, 199-203 तथा षड्दर्शनसमुच्चय, कारिका 49; स्याद्वादमंजरी, का. 8।
7. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/1/11।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—इंतु ज्ञानदत्तणिंदात्मं भिन्नाभिन्नस्वरूपनेंदु प्रतिपादिसि आत्मं सर्वथा अचेतनं, चेतनासमवायदिं-चेतननेंदु पूर्वपक्षमं माडलु आतंगे परिहारवागिं पेळल्वेडि बंदुदुत्तरसूत्रं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका) — *चेतनाचेतनात्मकत्वमात्मनः कथमिति चेदाह-*

प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः ।
ज्ञान-दर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेलनात्मकः ।। 4 ।।

कन्नड़ टीका—(आत्मा) आत्मं (अचिद्) अचेतनेंदु व्यवहारिसल्पडुवं, (कैः) आवुदरिंदं (धर्मैः) धर्मंगळिंदं, (कथंभूतैः) एन्तप्पवरिंदं (प्रमेयत्वादिभिः) प्रमाणविषयत्वसत्त्वमोदलागोडेय चेतनद्रव्यंगळोळिर्दसाधारणधर्मंगळिंदं (चिदात्मकः) चित्स्वभावनप्पं, (कस्मात्) आवुदरत्तणिं? (ज्ञानदर्शनतः) ज्ञानदर्शनाद्यसाधारण-धर्मंगळित्तंणिंदं, (तस्मात्) अदु कारणदिंदं (चेतनाचेतनात्मकः) चेतनाचेतन व्यवहारविषयनप्पं ।

संस्कृत टीका—*(प्रमेयत्वादिभिः) प्रमेयत्वास्तित्व-नित्यत्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्वाद्यनेक- साधारणधर्मैरभेदात्मा (अचिदात्मा) अचेतनस्वरूपः, (ज्ञानदर्शनतः) असाधारणज्ञानदर्शनगुणैः (चिदात्मकः) चिच्चैतन्यमात्मस्वरूपं यस्यासौ चिदात्मकः । (तस्मत्) तस्मात् कारणात् (चेतनाचेतनात्मकः) चेतनञ्चाचेतनञ्च चेतनाचेतने, ते द्वे आत्मस्वरूपं यस्यासौ चेतनाचेतनात्मकः । एवमितरवस्तुनि च स्वस्मिंश्च विद्यमानसाधारणासाधारणगुणापेक्षयाऽचेतनात्मकश्च चेतनात्मकश्च भवतीति आत्मनश्चेतनाचेतनात्मकत्वं प्रतिपादितमित्यर्थः ।*

उत्थानिका (कन्नड़)—इस प्रकार आत्मा ज्ञान से भिन्नाभिन्नस्वरूप है—ऐसा प्रतिपादन करने के बाद (अब) 'आत्मा सर्वथा अचेतन है, चेतना के समवाय से चेतना होता है' — इस प्रकार के पूर्वपक्ष वालों (वैशेषिकों) का परिहार करने के लिए प्रतिपादनार्थ उत्तर सूत्र आया है।

उत्थानिका (संस्कृत)—आत्मा के चेतनाचेतनात्मकत्व कैसे होता है?— ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं।

खण्डान्वय—प्रमेयत्वादिभिः धर्मैः=प्रमेयत्वादि (सामान्यगुणों) धर्मों के कारण से, आत्मा=आत्मतत्त्व, अचित्=अचेतन (कहा गया है) (और) ज्ञानदर्शनतः=ज्ञानदर्शन आदि (विशेष गुणों) के कारण से, चिदात्मकः=चेतनस्वरूप (कहा गया है), तस्मात्=इसलिए, चेतनाचेतनात्मकः=(पूर्वोक्त दोनों अपेक्षाओं से युगपत्) आत्मा

चेतनाचेतनात्मक है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–'आत्मा अचेतन है'–ऐसा व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा जाता है। किन कारणों से? धर्मों से, किन प्रकार के धर्मों से? प्रमाणविषयत्व (प्रमेयत्व), अस्तित्व आदि अचेतन द्रव्यों में (भी) रहने वाले साधारणधर्मों (सामान्यगुणों की अपेक्षा) से। (तथा) आत्मा चैतन्यस्वरूपी है, किस कारण से? ज्ञानदर्शनादि असाधारणधर्मों (विशेष गुणों) के रहने से, इन कारणों से (वह आत्मा) चेतनाचेतन व्यवहार का विषय कहा गया है।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–प्रमेयत्व-अस्तित्व-नित्यत्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्व आदि अनेक साधारणधर्मों से अभिन्न आत्मा अचेतनस्वरूप है (और) असाधारण ज्ञानदर्शन गुणों से चिच्चैतन्य आत्मस्वरूप जिसके है, वह चिदात्मक (चैतन्यस्वरूप) है। इस कारण से चेतन और अचेतन- ऐसा चेतनाचेतन, वे दो हैं आत्मस्वरूप जिसके, वह 'चेतनाचेतनात्मक' है। इस प्रकार अन्य वस्तु में और अपने (आत्मा) में विद्यमान साधारण और असाधारण गुणों की अपेक्षा से अचेतनात्मक और चेतनात्मक भी होता है, इसलिए आत्मा के चेतनाचेतनात्मकत्व प्रतिपादित किया गया है–ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ–ज्ञानादि आत्मिक गुणों एवं गुणी द्रव्य आत्मा की सर्वथा अभिन्नसत्ता है या इनमें भिन्नात्मकता भी है - यह वस्तुगत विवेचन यहाँ किया गया है। भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय[1] आत्मा और ज्ञानादि में गुण-गुणी के भेद का प्रतिपादन करता है। किन्तु भेदकल्पना-निरपेक्ष शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय[2] गुण-गुणी आदि के भेद की विकल्पना का निषेध करता है। अतः भेद एवं अभेद दोनों के प्रतिपादक दो नय विद्यमान हैं तथा इन नयों की शुद्धता एवं अशुद्धता का आधार भी वस्तुगत न होकर प्रयोजनगत है। जो सुख का साधन बने, वह शुद्ध; और जो दुःख का साधन बने, वह अशुद्ध। वस्तुगतरूप से देखा जाये तो अभेदरूप एकत्व एवं गुण-गुणी भेदरूप अनेकत्व - ये दोनों एक साथ निर्विरोधरूप से वस्तु में हैं।

'ज्ञानं पूर्वापरीभूतं' का अर्थ है 'कारण समयसार' एवं 'कार्य समयसार' रूप दोनों स्थितियों में ज्ञान ही विद्यमान है, व्याप्त है; अतः ज्ञान का अन्वय होने से ही उन कारण एवं कार्यरूप दोनों स्थितियों में यह ज्ञान 'सो अयम् आत्मा' - इस प्रकार से प्रत्यभिज्ञान[3] का कारण बनता है। जब बौद्धों ने कारणतत्त्व एवं कार्यतत्त्व की नितान्त भिन्नता[4] क्षणिकवाद के कारण प्रतिपादित की, तो

जैनाचार्यों ने उनके समक्ष यही प्रश्न रखा था कि 'यह वही देवदत्त है'[5] – इस प्रकार दर्शन और स्मरण पूर्वक होने वाले तुलनात्मक प्रत्यभिज्ञान कैसे सम्भव है? यदि दोनों में किसी तत्त्व का अन्वय नहीं हो, तो प्रत्यभिज्ञान की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती है। किन्तु ऐसा तुलनात्मक ज्ञान सभी के अनुभवसिद्ध है, अत: यह निश्चित है कि पर्यायगत परिवर्तनों के उपरान्त भी द्रव्यस्वभावगत एकत्व अविच्छिन्न है।

चेतना को जीव का लक्षण माना गया है।[6] नयचक्र में कहा है कि "आत्मा लक्षण चेतना है; वह चेतना ज्ञानदर्शन लक्षण वाली है, वही जीव की उपलब्धि है।"[7] निश्चयनय की दृष्टि से तो 'जिसके चेतना है, वही जीव है।'[8] संसारावस्था में भी 'कर्मोपाधिसापेक्ष ज्ञान-दर्शनरूप उपयोगवाले चैतन्यप्राणों से जो जीते हैं, वे जीव हैं।[9] अत: लक्षण या विशेषस्वरूप की अपेक्षा तो जीव चेतनरूप ही है। छहढालाकार कविवर पं० दौलतराम जी इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

"चेतन को है उपयोगरूप, चिन्मूरत बिन मूरत अनूप।"

अर्थात् चेतनतत्त्व जीव का स्वरूप ज्ञानदर्शनमय 'उपयोग' है। वह इसी ज्ञानदर्शनात्मक चेतना से निर्मित 'मूर्ति' है, तथापि पौद्‌गलिक मूर्तिकपना उसमें नहीं है–यह अनुपम वैशिष्ट्य जीव का है।

---

1. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गा. 195।
2. वही गा. 192।
3. "दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं, तदेवेदं-तत्सदृशं-तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि"- परीक्षामुखसूत्र; 3/5 तथा द्र. सिद्धभक्ति-संस्कृतटीका, पद्य 2।
4. 'असत्कार्यवाद' के रूप में।
5. "स एवायं देवदत्त: ..." परीक्षामुखसूत्र 3/6।
6. सर्वार्थसिद्धि: 1/4।
7. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 391।
8. द्रव्यसंग्रह, गाथा 3।
9. गोम्मटसार जीवकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका 2/21।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—इंतु चेतनाचेतनात्मकनप्पनेंदु साधिसला आत्म स्वदेह-परिमाणनो मेणु सर्वगतनो मेणु वटकणिकामात्रनो एन्दु यौगादिगळु पूर्वपक्षमं माडे स्वमतमं पेळल्वेडि बंदुदुत्तरश्लोकं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका) — *आत्मनः सर्वगतासर्वगतत्वमुपदर्शयति*

स्वदेहप्रमितश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि सम्मतः ।
तत्सर्वगततः[1] सोऽपि, विश्वव्यापी न सर्वथा ।। 5 ।।

कन्नड़ टीका—(सम्मतः) ओडंबडलुबट्टं (कः) आवं? (अयम्) ई आत्मं (कथम्) एन्तु? (स्वदेहप्रमितश्च) स्वदेहपरिमाणनुमेंदिंतु। (कथंभूतोऽपि) एन्तप्पनादोडं? (ज्ञानमात्रोऽपि) ज्ञानपरिमाणनादोडं ((तर्हि) अन्तादोडे) (तत्) आ ज्ञानं (कीदृशः) एन्तप्पुदु? (सर्वगतम्) सर्ववस्तुविषयं (ततः) अदु कारणदिंद (सोऽपि) आ आत्मं (विश्वव्यापी) सर्वगतनेंदु नुडियल्पडुवं (सर्वथा) यौगादिपरिकल्पितप्रकारदिंदं (न) अल्लं।

संस्कृत टीका—*(अयम्) अयमात्मा (च) 'च' शब्दात् केनचित् प्रकारेणेत्युच्यते (स्वदेहप्रमितः) स्वस्य देहः स्वदेहः, स्वदेहः प्रमितिः-प्रमाणं-परिमाणं यस्यासौ स्वदेहप्रमितरिति च। (ज्ञानमात्रोऽपि) ज्ञानमात्रपरिमाणं यस्यासौ ज्ञानमात्रः अपि (सम्मतः) ज्ञानसम्मतः स्यात्। (ततः) तस्मात् ज्ञानमात्रत्वात् (सर्वगतः) सर्वं गतं ज्ञातं येनासौ सर्वगतः स्यात्, (अपि) पुनः (सः) स एवात्मा स्वदेहप्रमाणत्वात् (सर्वथा) एकान्तेन विश्वव्यापी न भवति। समुद्घातादन्यत्रात्मनः कायप्रमाणत्वं, समस्तज्ञेयव्यापीकेवलज्ञानस्वरूपत्वात् ज्ञानमात्रत्वसंभावात् कथंचिद् व्यापकश्चाव्यापकश्च स्यादिति भावः।*

उत्थानिका (कन्नड़)—इस प्रकार (वह आत्मा) चेतनाचेतनात्मक है–ऐसा सिद्ध करने के पश्चात् वही आत्मा स्वदेहपरिमाण है या सर्वगत है अथवा वह वटकणिकामात्र है—इस प्रकार यौगादिकों के मतों को पूर्वपक्ष बनाकर अपने मत को प्रस्तुत करने के लिये यह उत्तरश्लोक है।

उत्थानिका (संस्कृत)—आत्मा का सर्वगतत्व एवं असर्वगतत्व दिखाते हैं।

खण्डान्वय—अयम्=यह आत्मा, स्वदेहप्रमितः=स्वदेहप्रमाण है, च=और (इसे ही) ज्ञानमात्रोऽपि=ज्ञानमात्र (परिमाणवाला) भी, सम्मतः=माना गया है। तत्=उस

---

[1] 'ततः सर्वगतः' – इति सं० प्रति पाठः।

ज्ञान के, सर्वगतत:=सर्वगतत्व होने से, सोऽपि=वह आत्मा भी, विश्वव्यापी=विश्वव्यापी है, (किन्तु यह बात), न सर्वथा=सर्वथा (एकान्तत:) नहीं है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)—माना जाता है, कौन? यह आत्मा, कैसा (माना जाता है)? अपनी देह के परिमाणवाला है—ऐसा, कैसा होते हुए भी? – ज्ञान के परिमाण में रहने पर भी, (अगर ऐसा है तो) वह ज्ञान, कैसा है (वह ज्ञान)? समस्त वस्तुओं को जाननेवाला है, इस कारण से वह आत्मा सर्वगत है—ऐसा कहा गया है। यौगादिमतावलम्बी की परिकल्पना के अनुसार (अर्थात् जैसा यौगादिमतावलम्बी मानते हैं, वैसा) नहीं है।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)—यह आत्मा, 'च' शब्द से यहाँ 'किसी प्रकार से' – ऐसा कहना चाहिए; अपनी देह 'स्वदेह' ही है प्रमिति-प्रमाण या परिमाण जिसका, वह स्वदेहप्रमित है—ऐसा (समझना चाहिए)। मात्र ज्ञान ही है परिमाण जिसका, वह ज्ञानमात्र भी ज्ञानसम्मत होता है। उस ज्ञानमात्रत्व के कारण, सब कुछ 'गत' अर्थात् जान लिया है जिसने, वह सर्वगत: होता, पुन: वही (सर्वगत) आत्मा स्वदेह प्रमाण होने से एकान्त से विश्वव्यापी भी नहीं होता है। समुद्घात के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में आत्मा का कायप्रमाणत्व (तथा) समस्तज्ञेयों को व्यापत करने वाले (जानने वाले) केवलज्ञानस्वरूपी होने से ज्ञानमात्रत्व (इसके) संभव है, अत: कथंचित् व्यापक भी होता है और कथंचित् अव्यापक भी होता है—ऐसा भाव है।

विशेषार्थ:—सभी गमनार्थक धातुओं का ज्ञानार्थकत्व वैयाकरणों ने निर्विरोधरूप से माना है। गम् (गच्छ्) धातु भी इसका अपवाद नहीं है। 'सर्वगत' शब्द में यही धातु प्रयुक्त है, अत: इस शब्द की दोनों व्युत्पत्तियाँ संभव है - "सर्वं गच्छतीति सर्वगत:' (सर्वत्र जाता-व्याप्त हैं, अत: सर्वगत) तथा "सर्वं जानातीति सर्वगत:" (सबको जानता है, अत: सर्वगत-सर्वज्ञ है)। ब्रह्माद्वैतवादी प्रथम व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं तथा आत्मा या ब्रह्म को सर्वव्यापी मानते हैं,[1] किन्तु जैनदर्शन में आत्मा का सर्वव्यापकत्व द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञानात्मक माना गया है, प्रदेशप्रसारात्मक नहीं।

ज्ञानात्मक सर्वगतत्व की सिद्धि करते हुए प्रवचनसार में कहा गया है -

"आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगदं।।"[2]

अर्थात् आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है; चूंकि ज्ञेय लोकालोक है, अत: ज्ञान सर्वगत है।

आत्मा की 'ज्ञानप्रमाणता' स्वरूपगत है, ज्ञान की 'ज्ञेयप्रमाणता' (जानने की शक्ति के अनुसार) शक्तिपरक है, ज्ञेय की लोकालोकप्रमाणता समस्त पदार्थों में प्रमेयत्व गुण के कारण वस्तुपरक है; तथा ज्ञान की 'सर्वगतता' गुण की अपेक्षा शक्तिगत एवं केवलज्ञानपर्याय की अपेक्षा अभिव्यक्तिगत–दोनों रूप में है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा की सर्वगतता ज्ञानात्मक है, प्रदेश की अपेक्षा नहीं। प्रदेश की अपेक्षा तो समुद्घात[3] की स्थिति को छोड़कर अन्य समस्त अवस्थाओं में प्राप्त शरीर के आकारवाला आत्मा है[4] तथा सिद्ध अवस्था में अन्तिम शरीर से कुछ कम पुरुषाकार[5] आत्मा के प्रदेशों की स्थिति मानी गयी है। यही अभिप्राय यहाँ '**स्वदेहप्रमितः**' पद के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

इसके साथ ही आत्मा के आकार के विषय में 'आत्मा को वटकणिकामात्र सूक्ष्म' माननेवालों की मान्यता भी स्वतः खण्डित हो जाती है।

'**विश्वव्यापी न सर्वथा**' इस वाक्यांश में सर्वथा विश्वव्यापी न मानने से अभिप्राय प्रदेशों की संकोच-विस्तार शक्ति एवं समुद्घात अवस्था में लोकप्रमाण तक उनका प्रसार स्वीकार करना[6] तथा सर्वत्र, सर्वदा लोकव्यापित्व का निषेध करना है। इस विवेचन से तीन तथ्य सुस्पष्टरूप से अभिव्यक्त होते हैं– 1. संसारावस्था में जीव प्राप्तशरीर के आकार में होता है, 2. शक्ति की अपेक्षा उसमें लोकप्रमाण व्याप्त होने की सामर्थ्य सर्वदा विद्यमान है और 3. उसकी लोकप्रमाणव्याप्तता मात्र 'समुद्घात' (केवलीसमुद्घात) की अवस्था में ही घटित होती है, अन्यथा नहीं होती है।

---

1. "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", छान्दोग्योपनिषद्, 3/14/1।
2. प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार गा. 28।
3. मूल शरीर को छोड़े बिना कुछ आत्मप्रदेशों का शरीर से प्रयोजनवशात् बाहर निकलना 'समुद्घात' कहलाता है। द्र. राजवार्तिक, 1/20/12 तथा गोम्मटसार जीवकाण्ड, 668।
4. "देहमात्र परिच्छिन्नो मध्यमो जिनसम्मतः।"- तर्कभाषा, पृ. 153, तथा द्रव्यसंग्रह गा. 10; पंचास्तिकाय, गा. 32-33।
5. "किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा..." द्रव्यसंग्रह।
6. यह स्थिति मात्र केवलीसमुद्घात में ही बनती है। द्र. सर्वार्थसिद्धि, 5/8।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)-अन्तु स्वदेहपरिमाणनुं सर्वगतगुमेंदु समर्थिसला आत्मं एकनो अनेकनो–एन्दु ब्रह्माद्वैतवादि यौगादि-वादिगळु पूर्वपक्षमं माडे स्वमतनिरूपणार्थमागि बन्दुदुत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)–आत्मन: एकानेकत्वं समर्थयति–

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकानेकोऽपि[1] नैव स: ।
चेतनैकस्वरूपत्वादेकानेकात्मको भवेत् ।। 6 ।।

कन्नड़ टीका–(स:) आ आत्मं (एक:) एकं (नैव) अल्लं, (कुत:) आवुदु कारणमागि? (नानाज्ञानस्वभावत्वात्) घट-पटादिविषयमप्पनेकज्ञानस्वभावनप्प कारणदिंदं (तर्हि: किमनेक:) अन्तादोडनेकने? (अनेकोऽपि) अनेकनुं (नैव) अल्लं, (कस्मात्) आवुदु कारणमागि? (चेतनैकस्वरूपत्वात्) चिदेकरूपनप्प कारणदिंदं (तर्हि कीदृशोभवेत्) अन्तादोडेन्तप्पं? (एकानेकात्मक:) एकानेकस्वरूपं (भवेत्) अक्कुं ।

संस्कृत टीका–(नानाज्ञानस्वभावत्वात्) नाना च ज्ञानानि, नानाज्ञानानि, तान्येव स्वभाव: स्वरूपं यस्यासौ नानाज्ञानस्वभावस्तस्य नानाज्ञानस्वभावत्वं, तस्मात्; (एकश्च चेतनैकस्वरूपत्वात्) मुख्यधर्मचैतन्यसामान्यं चेतनमेकमेव स्वरूपं यस्यासौ चेतनैकस्वरूप:, तस्मात् अनेकश्च स आत्मा नैव भवति अपि। पुन: कथंभूतश्चेत्? (एकानेकात्मक:) एकानेकस्वरूपो भवेत्। सामान्य चैतन्यगुणश्च तज्ज्ञानविशेषत्व रूपश्च स्वयमेव। तस्मादात्मैकानेकस्वरूपो भवतीति भाव: ।

उत्थानिका (कन्नड़)–इस प्रकार (आत्मा) स्वदेह परिमाण (अपने शरीर में सीमित) है और सर्वगत (सर्वव्यापी) भी है इस प्रकार समर्थन किया, अब वह एक है या अनेक है? –इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी एवं यौगवादी जनों को पूर्वपक्ष बनाकर अपने मत का निरूपण करने के लिए यह श्लोक प्रस्तुत है।

उत्थानिका (संस्कृत)–आत्मा के एकानेकत्व का समर्थ करते हैं।

खण्डान्वय–स:=वह आत्मा, एक:=एक है, नानाज्ञानस्वभावत्वाद्=अनेकविध ज्ञानस्वभावी होते हुए, अपि=भी, अनेक: नैव=अनेक (रूप) नहीं है। (अपितु) चेतनैकस्वरूपत्वाद्=एक चैतन्यस्वरूपी होने से, (वह) एकानेकात्मक=एकानेकात्मक, भवेत्=होता है।

---

[1] दिकोऽनैकोऽपि', इति सं० प्रति पाठ: ।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–वह आत्मा एक (रूप ही) नहीं है, किस कारण से? घट पट आदि विषयों को जानने वाले अनेकज्ञानस्वभावी होने के कारण से, तो क्या वह अनेकरूप है? (वह एकान्ततः) अनेक भी नहीं है। किस कारण से? चैतन्य ही उसका एकमात्र स्वरूप होने के कारण। तो वह आत्मा कैसा होगा? वह एकानेक स्वरूपवाला होता है।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–नाना हैं जो ज्ञान, वह नानाज्ञान; वे ही हैं स्वभाव-स्वरूप जिसके, वह नानाज्ञानस्वभावी। उसके नानाज्ञानस्वभावत्व के कारण चैतन्यसामान्यरूप मुख्यधर्मवाला चेतन एक ही स्वरूप है जिसका, वह चेतनैकस्वरूपी है; इस कारण से वह आत्मा अनेक भी नहीं होता है। फिर किस रूप होता है? (यदि ऐसा) पूछा जाये (तो कहते हैं, कि वह) एकानेक स्वरूपी होता है। सामान्य चैतन्यगुणवाला और उसका ज्ञान-विशेषत्व रूपवाला (वह आत्मा) स्वयं ही है। इस कारण से वह आत्मा एकानेकस्वरूपी होता है–ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ–ज्ञान के विषयभूत पदार्थों की अनेकविधता के कारण से जो ज्ञान में घटज्ञान-पटज्ञान आदि रूप से विविधिता मानी जाती है, उस विविधता के कारण ज्ञानमात्र कहा गया आत्मा भी अनेकरूप कहा जाता है। तथा इन अनेकविधज्ञानों में व्याप्त चित्‌शक्ति की एकता के कारण आत्मा की एकता अखंडित है और वस्तुतः वह एकरूप ही है। यह ज्ञान/आत्मा का उभयात्मकरूप वास्तव में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि अनेकरूपता पर प्रश्नचिह्न अंकित किया जाये, तो आत्मा का लोकालोकप्रकाशकत्व (सर्वगतत्व) खतरे में पड़ जायेगा। तथा यदि ज्ञानसामान्य या चेतनासामान्य पर आधारित एकरूपता नहीं मानी जाये, तो आत्मा की अखंडता एवं एकता पर प्रश्नचिह्न अंकित हो जायेगा। अतः वस्तुगतरूप में आत्मा का एकानेकात्मत्व रूप ही सुन्दर है तथा दृष्टिकोण-विशेष के आधार पर सम्यक्‌नय के द्वारा उसको एकरूप या अनेकरूप कहा जाना भी आपत्तिजनक नहीं है। किन्तु मिथ्या एकान्तवादी यदि उसे सर्वथा एकरूप या अनेकरूप बतायें, तो वह सर्वथा एकान्तवाद वस्तुविरोधी होने से उनके वचनों को अनेकान्तरूपी शस्त्र के द्वारा खंडन-योग्य बना देगा।

मात्र अद्वैत वेदान्ती (ब्रह्माद्वैतवादी) ही एकात्मवाद को मानते हैं, शेष न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं जैन इन सभी दर्शनों में अनेकात्मवाद की मान्यता है।[1]

---

[1] विशेष द्र०, जैनदर्शन में आत्मविचार; पृष्ठ 87 से 91 तक।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–इन्तु एकानेकस्वभावनेंदु प्रतिपादिसला आत्मं सर्वथाऽवाच्यं मेणु सर्वथाऽपि वाच्यनेंदु वक्तव्यावक्तव्यवादिगळ् पूर्वपक्षमं माडल् बन्दुदुत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका) –*विवक्षावशेनात्मा वक्तव्यावक्तव्यस्वरूप: स्यादिति वक्तुमाह–*

स वक्तव्य: स्वरूपाद्यैर्निर्वाच्य: परभावत: ।
तस्मान्नैकान्ततो वाच्यो नापि वाचामगोचर: ।। 7 ।।

कन्नड़ टीका–(वक्तव्य:) नुडियल्पडुवं (क:) आवं? (स:) आ आत्मं (कै:) आवुदरिंदं? (स्वरूपाद्यै:) स्वरूपादिचतुष्टयंगळिंदं (निर्वाच्य:) नुडियल्पडं (कस्मात्) आवुदरत्तणिंदं? (परभावत:) पररूपादिचतुष्टयदिंदं (तस्मात्) अदु कारणदिंदं (वाच्य: न) वाच्यमल्लं। (कथम्) एन्तु? (एकान्तत:) एकान्तदिंदं (पुनरपि की द्गभूतो न भवति) मत्तमेन्तप्पनल्लं? (अगोचरोऽपि) अविषयनुं (न) अल्लं, (कासाम्) आवुवक्के? (वाचाम्) वचनंगळ्गे ।

संस्कृत टीका–*(स:) स आत्मा (स्वरूपाद्यै:) स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षमया (वक्तव्य:) आत्मेत्यादिशब्दैर्वक्तव्य: । (परभावत:) परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया जीवेत्यादिशब्दै: (निर्वाच्य:) निर्वचनीय: । (तस्मात्) तस्मात् कारणात् (एकान्तत:) सर्वथा वचनेन (वाच्य:) एवंविध इति वाच्यश्च (न) न च (अपि) पुन: (वाचामगोचर:) वचनाविषयश्च, (न) न च। स्वरूपादिचतुष्टयेन वक्तव्य:, परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया निर्वाच्यश्च स्यात् । दृष्टान्तपूर्वकासाधारणनिजधर्मत्वेन निरूपणे प्रतिपाद्यत्वात् वाग्विषयो भवतीति भाव: ।*

उत्थानिका (कन्नड़)–इस प्रकार (आत्मा) एकानेकस्वभाव वाला है–यह प्रतिपादन किया गया। अब वह आत्मा सर्वथा अवाच्य है अथवा सर्वथा ही वाच्य है–इस प्रकार सर्वथा वक्तव्यवादियों एवं सर्वथा अवक्तव्यवादियों को पूर्वपक्ष बनाकर यह श्लोक आया है।

उत्थानिका (संस्कृत)–विवक्षा के कारण आत्मा वक्तव्य और अवक्तव्यस्वरूपी होता है,–ऐसा बताने के लिए कहते हैं।

खण्डान्वय–स:=वह आत्मा, स्वरूपाद्यै:=स्वरूपादि (चतुष्टय) की अपेक्षा से, वक्तव्य:=वक्तव्य (कहने योग्य) है (तथा) परभावत:=परभाव की अपेक्षा से, निर्वाच्य:=निर्वाच्य है। तस्मात्=इस कारण से, एकान्तत:=एकान्तरूप से, वाच्यो

न=वाच्य भी नहीं है, (और) वाचामगोचर:=वचनों के द्वारा (सर्वथा) अगोचर (अवाच्य), अपि=भी, न=नहीं है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)—कहे जाने योग्य है, कौन? वह आत्मा, किससे (कहे जाने योग्य है)? स्वरूपादि चतुष्टयों से। (तथा) कहे जाने योग्य नहीं है, किस कारण से? पररूपादि चतुष्टयों से; इस कारण से (आत्मा) वाच्य नहीं है। कैसे? एकान्तपक्ष से। और किस प्रकार से नहीं होता? उस विषय का अगोचर भी नहीं है, किसका? वचनों का।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)—वह आत्मा स्वद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा से 'आत्मा' इत्यादि शब्दों के द्वारा वक्तव्य है (तथा) परद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा से 'जीव' इत्यादि शब्दों के द्वारा निर्वचनीय है। इस कारण से सर्वथा वचनों के द्वारा इस प्रकार ऐसा वाच्य भी नहीं है और वचनों का अविषय भी नहीं है। स्वरूपादिचतुष्टय के द्वारा वक्तव्य है और परद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा से निर्वाच्य भी होता है। दृष्टान्तपूर्वक असाधारण जो निजधर्म, उस रूप से निरूपण में प्रतिपाद्य होने से वचन का विषय होता है- ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ:—'आत्मा को सर्वथा वचन-अगोचर (वचनातीत) तत्त्व' माना जाये तो सम्पूर्ण आत्मस्वरूप-प्रतिपादक शास्त्र एवं उपदेश व्यर्थ हो जायेंगे तथा 'वचनों द्वारा कहे जाने योग्य' मानने पर अनुभूति की उपयोगिता एवं विशेषता नहीं रहेगी। - ऐसा अभिप्राय प्रयोजनवश आत्मा को वक्तव्य एवं अवक्तव्यरूप कहने वाले व्यक्त करते हैं। किन्तु यहाँ जो आत्मा को वक्तव्य या अवक्तव्य कहा गया है, वह किसी प्रयोजन के वशीभूत होकर नहीं कहा गया है; अपितु वस्तुगतरूप में आत्मा वचनगोचर है या नहीं - यह बात कारण-सहित बतायी गयी है।

स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव - इस स्वचतुष्टय की अपेक्षा आत्मा का कथन किया जा सकता है; सम्पूर्ण आगमग्रन्थ एवं ज्ञानी गुरूओं ने इन्हीं चार पक्षों से आत्मा के स्वरूप-विषयक विवेचन किया है। किन्तु यह वचनगोचरता भी बहुत वास्तविक नहीं है, क्योंकि शब्द पौद्गलिक (जड़रूप) हैं और आत्मा चेतनतत्त्व है; अत: जड़ शब्द चेतन आत्मा के बारे में स्वरूपत: कोई ज्ञान नहीं करा सकते हैं। हाँ वे उसके विषय में संकेत अवश्य कर सकते हैं - यही यहाँ आत्मा को 'शब्दगोचर' या 'वक्तव्य' कहने का अभिप्राय है।

इसी प्रकार परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल और परभाव - इस पररूप चतुष्टय में आत्मा है ही नहीं और जब उसरूप आत्मा है ही नहीं, तो उसका कथन कैसे संभव है; अत: आत्मा को पररूपचतुष्टय से 'अवाच्य' कहा गया है।

सप्तभंगीनय के प्रकरण में आत्मा की अवाच्यता वस्तुपरक नहीं मानी गयी है, अपितु वह वाणी में दो या अधिक धर्मों का युगवद् कथन करने की सामर्थ्य के अभाव की सूचक है।[1] जबकि यहाँ अवाच्यता वस्तुपरक है। 'वस्तु स्वयं ही वाच्य एवं अवाच्य–दोनों धर्मों को धारण करती है'– यह तथ्य यहाँ बताया गया है। उस वस्तु को स्वभावत: सर्वथा अवाच्य नहीं कहा जा सकता है। स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं कि यदि वस्तु को सर्वथा अवाच्य मानोगे, तो 'अवाच्य' शब्द के द्वारा भी वस्तु का परिचय नहीं दिया जा सकता है; अन्यथा वह 'अवाच्य' शब्द के द्वारा वाच्य हो जायेगी।[2] तथा फिर आत्मस्वरूप के प्रतिपादक समस्त शास्त्र एवं प्रवचन नितान्त अनुपयोगी और मिथ्या सिद्ध होंगे। उनको व्यवहार से भी आत्मस्वरूप प्रतिपादन की क्षमता नहीं कही जा सकेगी, जो कि उचित नहीं है। आप्त का हितोपदेशित्व एवं आगम का पूज्यत्व सब 'आत्मा' की वाच्यता पर आधारित है। अत: यदि आत्मा को सर्वथा अवाच्य मान लिया जायेगा, तब उस स्थिति में न तो आप्त उपयोगी रहेंगे, न आगम और न ही तीर्थंकर-गणधर-श्रुतकेवली आदि से लेकर अन्य आरातीय आचार्यों एवं विद्वानों के उपदेश किसी काम के रहेंगे। अत: भले ही सांकेतिक एवं प्रयोजनपूरक रूपों में ही सही, आत्मा 'वाच्य' है।

किन्तु इस वाच्यता का अर्थ 'पौद्गलिक शब्द के द्वारा अभिव्यक्ति को प्राप्त होने वाला अमूर्तिक आत्मा है'–ऐसा नहीं मान लिया जाय; अत: आत्मा को 'अवाच्य' भी माना है। अन्यथा पौद्गलिक शब्द के द्वारा आत्मा का स्वरूप सुनकर ही सम्यग्दर्शन हो जायेगा, आत्मा की अनुभूति की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

इस प्रकार यहाँ कथित आत्मा की वाच्यता और अवाच्यता – दोनों ही अत्यन्त विशिष्ट दृष्टिकोण एवं महत्त्व रखतीं हैं।

---

1. आप्तमीमांसा, कारिका 16।
2. "अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते" – वही, कारिका 13।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–इंतु स्व-पर-स्वरूपादिचतुष्टयदिं वक्तव्यावक्तव्यस्वरूपात्मनेन्दु समर्थिसला आत्मं भावरूपमो मेणु अभावरूपमो-एन्तु ब्रह्माद्वैत-सुगतादि-वादिगळु पूर्वपक्षमं माडे बन्दुदुत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका) *विधि-निषेधकत्वमात्मनो निरूपयति–*

स स्याद् विधि-निषेधात्मा, स्वधर्म-परधर्मयो: ।
समूर्तिबोधमूर्तित्वादमूर्तिश्च विपर्ययात् ।। 8 ।।

कन्नड़ टीका–(स्यात्) अप्पं (क:) आवं? (स: आत्मा) आं आत्मं (कथंभूत:) एन्तप्पं? (विधिनिषेधात्मा) अस्तित्व-नास्तित्व-स्वभावं (कयो:) आवुवदरल्लि? (स्वधर्म-परधर्मयो:) स्वधर्मपरधर्मंगळोळु (भूयोऽपि कीदृग्भूत:) मत्तमेंतप्पं? (समूर्ति:) मूर्तियोळ् कूडिदं (कुत:) आवुदु कारणदिं? (बोधमूर्तित्वात्) ज्ञानस्वरूपनप्पुदरिंदं (पुनरपि कथंभूत:) मत्तमेंतप्पं? (अमूर्तिश्च) मूर्तिरहितनप्पं (कस्मात्) आवुदु कारणदिंदं? (विपर्ययात्) रूपादिरहितनप्पुदरिंदं ।

संस्कृत टीका–*(स) आत्मा (स्वधर्म-परधर्मयो:) आत्मगतज्ञातृत्वादिस्वधर्मश्च परगतरूपादिधर्मश्च-एतयोर्द्वयोर्धर्मयोर्विषयेषु (विधिनिषेधात्मा अस्तित्वं निषेधश्च) नास्तित्वमिति विधिनिषेधे आत्मस्वरूपं यस्यासौ विधिनिषेधात्मा (स्यात्) भवेत् । (बोधमूर्तित्वात्) बोधमूर्ति: स्वरूपं यस्यासौ बोधमूर्तिस्तस्य भावो बोधमूर्तित्वं, तस्मात् (समूर्ति:) सहितो मूर्त्या समूर्ति: (विपर्ययात्) तद्विपरीत-रूपादि रहितत्वेन (अमूर्तिश्च) मूर्तिरहितश्च भवेत् । अनने प्रकारेणात्मा स्वधर्म-परधर्मसदसदात्मकश्च मूर्तामूर्तश्च भवेदिति भाव: ।*

उत्थानिका (कन्नड़)–इस प्रकार स्वपरस्वरूपादिचतुष्टयों से आत्मा वक्तव्य और अवक्तव्यस्वरूप भी है–इसका समर्थन करने के बाद 'वह आत्मा भावरूप है अथवा अभावरूप है'–इस प्रकार (की मान्यतावाले) ब्रह्माद्वैतवादियों एवं बौद्धों के मतों को पूर्वपक्ष बनाकर यह श्लोक आया है।

उत्थानिका (संस्कृत)–विधिरूपपना एवं निषेधरूपपना आत्मा के निरूपित करते हैं।

खण्डान्वय:–स:=वह आत्मा, स्वधर्म-परधर्मयो:=स्वधर्म और परधर्म में (क्रमश:) विधिनिषेधात्मा=विधि और निषेधरूप स्यात्=होता है। स:=वह, बोधमूर्तित्वात्=ज्ञानमूर्ति होने से, मूर्ति:=मूर्तिरूप (साकार) है, च=और विपर्ययात्=(मूर्तित्व के विपर्यय अर्थात् रूपादि से रहित) विपरीतरूपवाला होने से

अमूर्तिः=अमूर्तिक है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका):–होता है, कौन (होता है)? वह आत्मा, कैसा होता है? अस्तित्व-नास्तित्वरूप स्वभाववाला, किनमें? स्वकीय व परकीय धर्मों में। और फिर किस प्रकार का है? मूर्तिमान् है, किस कारण से (मूर्तिमान है)? ज्ञानस्वरूपी होने के कारण से, और फिर कैसा है? मूर्तित्व से रहित है, किस कारण से? रूपादि गुणों से रहित होने के कारण से।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–वह आत्मा आत्मगत ज्ञातृत्व आदि अपने धर्म एवं परगत रूपादि परधर्म-इन दोनों धर्मों के विषयों में विधि अर्थात् अस्तित्व भी और निषेध अर्थात् नास्तित्व,–इस प्रकार विधिनिषेध है आत्मस्वरूप जिसके, वह विधि निषेधात्मक होता है। ज्ञानमूर्ति है स्वरूप जिसका, वह बोधमूर्ति, उसका भाव बोधमूर्तित्व है, उससे। मूर्तित्व से जो सहित है, वह समूर्ति है तथा उसके विपरीत रूपादि से रहितपने के कारण मूर्तिरहित भी होता है। इस प्रकार से आत्मा स्वधर्म और परधर्म में सद्रूप एवं असद्रूप होने से मूर्तामूर्त होता है–ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ:–वस्तु को मात्र 'सत्' स्वरूप कहने में उसका स्वरूप-निर्धारण नहीं हो सकता, वह सर्वात्मक एवं मर्यादाविहीन हो जायेगी;[1] अतः वस्तु अपने नियतस्वरूप में ही है, पररूप अथवा स्वरूपविहीन नहीं है - ऐसा निश्चय 'नास्ति' धर्म को स्वीकार किये बिना असंभव है। इसीलिए भारतीय दर्शनों में जहाँ भी आत्मा को 'सत्' कहा गया, वहीं 'चित्' एवं 'आनन्द' स्वरूप (सच्चिदानन्दरूप) भी कहा गया; जिसका एकमात्र यही अभिप्राय था कि 'आत्मा' या 'ब्रह्मतत्त्व' चेतन एवं आनन्दरूप में ही 'सत्' है; अन्य पौद्गलिक रूप-रस-अचेतनत्व आदि के रूप में उसे 'सत्' नहीं माना जाय। क्योंकि ज्ञानानन्दरूप के अलावा अन्यरूप से आत्मा को 'सत्' नहीं कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा कहते हुए भी ब्रह्माद्वैतवादी 'आत्मा' या 'ब्रह्मतत्त्व' को सर्वथा सत्स्वरूप, सर्वव्यापी अद्वैततत्त्व के रूप में कल्पना करने लगते हैं। उनके मत की समीक्षा करते हुए यहाँ आत्मा को आत्मगत ज्ञातृत्व (जाननहारपना) आदि चेतनधर्मों के रूप में 'विधिरूप' (विद्यमान-अस्तिरूप या 'सत्') तथा परगत जड़त्व, रूप-रस-गन्धादि रूपों में 'निषेधरूप' (अविद्यमान-नास्तिरूप या 'असत्') कहा गया है तथा इस प्रकार अस्ति-नास्ति-अनेकान्तरूप आत्मा की सिद्धि की गयी है।

वस्तु को जैनों ने अस्ति-नास्ति उभयरूप तो माना, किंतु वहाँ मात्र नास्तिवादियों के समान अभावरूप भी नहीं माना है। क्योंकि वैसा मानने पर ज्ञान एवं वचन-दोनों ही अभावरूप हो जाने से अभावैकान्त की सिद्धि भी असंभव हो जायेगी।[2] अत: स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा आत्मवस्तु विधिरूप या भावरूप है तथा परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा वही निषेधरूप या अभावरूप है[3] –ऐसी अनेकान्तदृष्टि के साथ जैनों ने स्याद्वादी शैली में वस्तु का अस्तित्व एवं नास्तित्व सिद्ध किया है।

'मूर्ति' या 'मूर्तिक' शब्द की दो तरह से व्याख्यायें की जाती हैं, एक तो 'रूप-रस-गंधादिमय होने से मूर्तिक' और दूसरी 'आकारसहित होने से मूर्तिक'। प्रथम व्याख्या आत्मा पर स्वरूपत: लागू नहीं होती है, अत: यहाँ दूसरी व्याख्या के अनुसार ज्ञानपरिमाण या ज्ञानाकार तत्त्व होने से आत्मा को 'मूर्तिक' कहा गया है। तथा रूपादि के कारण आने वाला मूर्तिकपना आत्मा में नहीं होने से उसे 'अमूर्तिक' कहा है। यहाँ अनेकान्त की स्थापना के साथ-साथ आत्मा के अध्यात्मगत मूलस्वरूप को अबाधित रखकर भट्ट अकलंकदेव ने अद्भुत सन्तुलन प्रस्तुत किया है।

जीव को जो अमूर्तिक कहा गया है, वह जीव के स्वभाव का कथन तो है ही; साथ ही इस कथन से भाट्टों एवं चार्वाकों के आत्मा-विषयक स्पर्श-रस-गंध-वर्णादिरूप मूर्तिकत्व का भी निराकरण होता है।[4] किंतु जो मूर्तिकत्व का यहाँ प्रतिपादन है, वह नितान्त मौलिक एवं विशिष्ट है।

---

1. आप्त मीमांसा, 1/9।
2. वही, 1/12।
3. वही, 1/15।
4. द्रव्यसंग्रह, गाथा 7 की टीका (ब्रह्मदेव सूरिकृत)।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–इन्तनेकधर्मात्मकनात्मनेंदु पेळे, आ धर्मगळना आत्मनेन्तु कैकोळ्वनेंदु सौगतादिगळु पूर्वपक्षमं माडे पेळलेंदु बन्दुदुत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)–*एवं संक्षेपेणात्मस्वरूपं प्ररूप्य संबोधनास्वरूपेण तपस्वीकारं स्वयमेव–भवानेव करोत्वितीदं प्ररूपयति–*

इत्याद्यनेकधर्मत्वं, बन्धमोक्षौ तयो: फलम् ।
आत्मा स्वीकुरुते तत्तत्कारणै: स्वयमेव तु ।। 9 ।।

कन्नड़ टीका–(स्वीकुरुते) कैकोळ्वं (क:) आवं? (आत्मा) आत्मं (किम्) एनं (इत्याद्यनेकधर्मत्वम्) इन्निवु मोदलागोडेय अनेकधर्मरूपमं (न केवलमित्याद्यनेकधर्मत्वम्) केवल धर्मगळने एंबुदिल्ल (बन्धमोक्षौ) बन्धमुमं मोक्षमुमं (फलम्) फलमुमं (कयो:) आवुवर? (तयो:) आ बन्धमोक्षंगळ (कै:) आवुवरिंद कैगोळ्वं? (तत्तत्कारणै:) अवरवर कारणंगळिंद। इंतल्लदे ईश्वरादिगळे माडुवरेंबुदज्ञानचेष्टितं, (कथम्) एंतु (स्वयमेव तु) तनगे ताने।

संस्कृत टीका–*(आत्मा) जीव: (इत्यादि) इत्युपयोगादिपूर्वोक्तम् (अनेकधर्मत्वम्) बहुप्रकाराणां (तयो:) बंधमोक्षयो: (फलम्) फलञ्च (तत्तत्कारणै:) तत्तदुपयोगादीनां कारणै:' (तु) पुन: (स्वयमेव) आत्मैव (स्वीकुरुते) स्वीकरोति । आत्मानन्तधर्मात्मकत्वादित्युक्तोपयोगादिगुणा: उपलक्षणमिति भाव: ।*

उत्थानिका (कन्नड़)–इस प्रकार आत्मा अनेक धर्मात्मक है–ऐसा कहने पर 'उन धर्मों को वह आत्मा कैसे स्वीकार करता है?' ऐसे सौगत (बौद्ध) आदिकों (के अभिप्राय) को पूर्वपक्ष बनाकर उत्तर देने के लिए यह श्लोक आया है।

उत्थानिका (संस्कृत)–इस प्रकार संक्षेपरूप से आत्मा का स्वरूप बताकर संबोधनरूप से (ऐसा कहते हैं कि) तप को अंगीकार स्वयं ही-आप ही करें–ऐसा यहाँ प्ररूपित करते हैं।

खण्डान्वय–इत्यादि=पूर्वोक्त (प्रकार से आत्मा की) अनेकधर्मत्वं=अनेकधर्मात्मकता को (तथा) बन्धमोक्षौ=बन्ध और मोक्ष को, (एवम्) तयो:=उन दोनों के, फलम्=फल को, तत्तत्कारणै:=उन-उन कारणों से, आत्मा=यह जीव, स्वयमेव=स्वयं ही, स्वीकुरुते=स्वीकार करता है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–स्वीकार करता है, कौन? यह आत्मा, किसे (स्वीकार करता है)? इत्यादि (पूर्वोक्त) अनेक धर्मात्मकस्वरूप को। केवल

धर्मों को ही नहीं (अपितु) बन्ध और मोक्ष को (तथा) फल को (भी स्वीकार करता है)। किनके (फल को)? उन बन्ध और मोक्ष के, किनसे प्राप्त करेगा? उन-उन कारणों से। यदि ऐसा नहीं है, तो 'ईश्वर आदि ही करते हैं'—ऐसी मान्यता अज्ञानचेष्टा है। कैसे? अपने आप ही।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)—जीव ये उपयोगादि पूर्वोक्त बहुत प्रकार के धर्मों के स्वरूप को, कर्मबन्ध और उसका नाश ऐसे बन्ध-मोक्ष-दोनों को, (उन) बन्ध और मोक्ष के फल को एवम् उन-उन उपयोगादि के कारणों से पुन: आत्मा को स्वीकार करता है। आत्मा अनन्तधर्मात्मक स्वभाववाला होने से कहे गये उपयोगादि गुण (उसके) उपलक्षण हैं—ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ—विगत आठ पद्यों में अनेक धर्मयुगलों की आत्मा में अपेक्षासहित निर्विरोध उपस्थिति बताते हुए आत्मा की अनेकान्तात्मकता सिद्ध की है। अब उस चर्चा का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकर्त्ता लिखते हैं कि उक्त अनन्तधर्मात्मक अनेकान्तरूपता आत्मा में सकारण एवं सार्थक है। आत्मा अनेकान्तरूप पारमार्थिक वस्तुविशेष है तथा उसके जो बन्धन एवं मोक्ष का वर्णन सिद्धान्तग्रन्थों में उपलब्ध होता है, वह भी सहेतुक है। आत्मा अज्ञानमय भाव से स्वयं ही बन्धन को प्राप्त होता है और ज्ञानमय पुरूषार्थपूर्वक स्वयं ही मुक्त होता है।[1] इस प्रकार कर्मबन्धन करना, कर्मफल को भोगना एवं कर्मबन्धन से मुक्त होना - ये सब प्रतिक्रियायें अपने-अपने कारणों/साधनों से घटित होती हैं। - इस पद्य में यह संकेतमात्र किया गया है। उन कारणों का कथन आगामी पद्यों में आया है।

स्वयं कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का निरूपण करने से जो ईश्वरकर्तृत्ववादी तनु-करण-भुवनादि का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं,[2] उसका निराकरण हो जाता है। संसार में परिभ्रमण एवं इससे मुक्त होना—इन दोनों में ईश्वर या अन्य किसी पदार्थ का कोई योगदान नहीं,[3] जीव अज्ञानमय भावों से स्वयं बंधता है और ज्ञानमय भावों से स्वयं ही उससे छूटता है।[4]

---

[1] स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद् विमुच्यते।।

[2] विशेष द्र०, 'आप्तपरीक्षा' 9/51-68।

[3] स्याद्वादमंजरी, कारिका 6 एवं टीका; न्यायकुमुदचन्द्र पृ० 101-114।

[4] द्र० समयसार, गा० 265 एवं 270।

उत्थानिका—(कन्नड़ टीका)—इंतनेकधर्ममुमं बन्ध–मोक्ष–तत्फलमुमं आत्मने माडुवनेने सांख्यं कर्मगळिगात्मं कर्तृवल्लनेने, सौगतं स्वकृतकर्मगळ्गे स्वयं भोक्तृत्ववल्लं, सन्तानमे भोक्तृवेने;मीमांसकरोळोर्व कर्मगळिंदात्मं मुक्तनल्लनेने बन्दुदुत्तरश्लोकं—

उत्थानिका—(संस्कृत टीका)—*कर्मण: कर्तृत्वादीनि स्वरूपाणि वक्तुमिदमाह*—

कर्ता य: कर्मणां भोक्ता, तत्फलानां स एव तु।
बहिरन्तरुपायाभ्यां तेषां मुक्तत्वमेव हि ।। 10 ।।

कन्नड़ टीका—(भोक्ता) भोक्तृ (केषाम्) आववर्कें? (तत्फलानाम्) आ कर्मफलंगळ्गे (क:) आवं? (स एव तु) आतने मत्ते (य: कीदृश:) आवनानुमोर्वनेन्तप्पं? (कर्ता) कर्तृ (केषाम्) आवक्के? (तत्फलानां कर्मणाम्) सुखदु:खादिगळं माळ्प कर्मगळ्गे (तेषां किं) आ कर्मगळगेनु? (मुक्तत्वमेव) अगल्केयक्कुं (कथम्) एन्तु? (हि) स्फुटवागि (काभ्याम्) आवुवरिंदं? (बहिरन्तररूपायाभ्याम्) बाह्याभ्यन्तर कारणंगळिंदं।

संस्कृत टीका—*य: (कर्मणाम्) ज्ञानावरणादीनां कर्ता (तु) पुन: (स एव) स एव जीव: (तत्फलानाम्) तत्कर्मफलानां (भोक्ता) अनुभविता। (बहिरन्तरुपायाभ्यामेव) बाह्याभ्यन्तरतपश्चरणोपायाभ्यामेव (तेषां) तत्कर्मणां (मुक्तत्वम्) मोक्ष: (हि) स्फुटं स्यात्।*

उत्थानिका (कन्नड़)—इस प्रकार अनेक धर्मों को, बन्ध–मोक्ष को और उनके फलों को आत्मा ही करता है-यह निर्णय हुआ। तब सांख्य बोलता है—'कर्मों का कर्ता आत्मा नहीं है', सौगत (बौद्ध) कहता है '(आत्मा) स्वयंकृत कर्मों का स्वयं भोक्ता नहीं है, उसकी सन्तान ही उनकी भोक्ता है।' मीमांसकों में से एक कहता है कि 'कर्मों से आत्मा मुक्त नहीं है।'—इन सबके उत्तरस्वरूप यह श्लोक आया है।

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—कर्म का कर्तापना आदि एवं स्वरूप बताने के लिए यह कहते हैं—

खण्डान्वय—य:=जो कोई, कर्मणां=कर्मों का, कर्ता=कर्ता है, तु=और, स एव=वही, तत्फलानां=उनके फलों का, भोक्ता=भोगने वाला है। हि=क्योंकि, बहिरन्तरुपायाभ्यां=बहिरंग और अन्तरंग उपायों से, तेषां=उन कर्मों का, मुक्तत्वमेव=मुक्तपना ही है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–भोक्ता है, कितना (भोक्ता है)? उन कर्मफलों का कौन (भोक्ता है)? नहीं तो, वह कैसा है? कर्ता है, किनका (कर्ता है)? सुख-दुःखादिफल फल देने वाले कर्मों का। उन कर्मों का क्या होगा? वे मुक्त हो जायेंगे। कैसे (मुक्त हो जायेंगे)? निश्चय ही, किन कारणों से? बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–जो ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्ता है और वही जीव उन कर्मों के फलों का भोक्ता-अनुभव करने वाला है। बाह्य एवं आभ्यन्तर तपश्चरणरूप उपायों से उन कर्मों का मोक्ष (छुटकारा) निश्चय ही होता है।

विशेषार्थ:–पिछले पद्य में विशिष्ट कारणपूर्वक आत्मा को कर्मों का कर्त्ता, कर्मफल का भोक्ता एवं कर्मबन्धन से पूर्णतया मुक्त होने वाला - त्रिविधरूप बताया था। वह कथन क्रमशः सांख्यों, बौद्धों एवं मीमांसकों की आत्माविषयक मान्यताओं के लिए अनुकूल नहीं थे। क्योंकि सांख्य का पुरुष कूटस्थ नित्य होने के कारण कर्मों का कर्त्ता हो नहीं सकता, अतः आत्मा को 'कर्मों का कर्त्ता' कहा जाना सांख्य को कदापि इष्ट नहीं हो सकता है।[1] तथा बौद्ध समस्त पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, अतः आत्मा भी क्षणिक है एवं कर्म भी क्षणिक हैं - ऐसी स्थिति में वही आत्मा भविष्य में उन कर्मों के फलों का भोक्ता कैसे कहा जा सकता है? अतः वे (बौद्ध) स्वयंकृत कर्मों का भोक्तृत्व आत्मा की सन्तान को मानते हैं।[2] इसी प्रकार मीमांसकों में 'कर्म' से आत्मा की नितान्त मुक्ति नहीं मानी गयी है,[3] और जब कर्मों से आत्मा मुक्त ही नहीं होगा; तो उसे 'मोक्षस्वरूपी' या 'मुक्तात्मा' संज्ञा भी नहीं दी जा सकती है।

सांख्यों, बौद्धों एवं मीमांसकों की इन आशंकाओं का निराकरण करने के लिए इस पद्य में अकलंकदेव ने आत्मा का कर्मकर्तृत्व, कर्मफलभोक्तृत्व एवं कर्मबन्धन से मुक्त होना - इन तीनों का विवेचन किया है।

यहाँ **'तेषां मुक्तत्वमेव हि'** वाक्यांश विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। इसमें 'एव' तथा 'हि' - ये दो निश्चयार्थक अव्यय प्रयुक्त हुए हैं। इससे ग्रंथकर्त्ता का यह अभिप्राय प्रकट होता है कि त्रिकाल अबाधित द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से तो आत्मा मुक्तस्वरूपी ही है तथा कर्तृत्वशक्ति एवं भोक्तृत्वशक्ति भी स्वभावतः होने से 'कर्त्ता' एवं 'भोक्ता' भी आत्मा को कहा गया है। इस प्रकार स्वभाव की अपेक्षा ये तीनों विशेषतायें आत्मा की कही गयी हैं। किन्तु 'बहिरन्तरुपायाभ्याम्'

यह समासयुक्त पद आत्मा के मुक्तस्वरूप की पर्याय में अभिव्यक्ति के साधन की सूचना देता है। इससे टीकाकार ने बहिरंग एवं अन्तरंग तप आदि मोक्षसाधनों का ग्रहण किया है।

एक और बात यहाँ ध्यान देने योग्य है, वह यह कि '**य: कर्मणां कर्त्ता, स एव तत्फलानां भोक्ता**' - ऐसा जो वाक्यप्रयोग है, वह बौद्धों की 'कर्मसन्तान' एवं 'क्षणिकवाद' की मान्यता का तो निराकरण करता ही है; क्योंकि इसका स्पष्ट संकेत है कि 'जो आत्मा कर्म को करता है, वही उस कर्म के फल को भोगता है, अन्य नहीं'।[4] तथा 'बहिरंग एवं अन्तरंग साधनों से अनिवार्य रूप से कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त होना' कहकर मीमांसकों की मान्यता (कि आत्मा कर्मबन्धन से कभी मुक्त नहीं हो सकता) का भी निराकरण[5] तो किया ही है, साथ ही कर्मबन्धन से मुक्ति के उपाय भी बता दिये हैं।

आचार्य उमास्वामी ने 'तप' से संवर एवं निर्जरा–दोनों का विधान किया है,[6] तथा संवर-निर्जरा ही मोक्ष के साधन हैं–इस प्रकार तप को मोक्षसाधन कहना न्यायसंगत भी है। तप में अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों का ग्रहण करके निश्चय-व्यवहार का सन्तुलनपूर्वक वास्तविक मोक्षपथ बताया है। सांख्य ने पारमार्थिक मुक्ति नहीं मानी है। "मुक्तत्वमेव" पद में 'एवकार' का प्रयोग करके जीव परमार्थतः मुक्त होता है–यह स्पष्ट किया है।

---

1. विशेष द्र० अमितगति श्रावकाचार, 4/35; तत्त्वार्थराजवार्तिक, 2/10/1; न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० 819; आप्तपरीक्षा, पृ० 114।
2. स्याद्वादमंजरी, 18 अमितगतिश्रावकाचार, 4/87; आप्तमीमांसा, 51 तत्त्वार्थवार्तिक 1/1/57 एवं अष्टसहस्री, पृ० 182, 197।
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, प्रथम अध्याय की भूमिका, वार्तिक 6 का भाष्य।
4. "य: कर्म करोत्यात्मा, स एव तत्फलमश्नुते।"–
5. द्र० राजवार्तिक, 10/2/3; कसायपाहुड 1/1-1/42/60।
6. "तपसा निर्जरा च।" –तत्त्वार्थसूत्र, 9/3।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–अवरोळभ्यंतरकारणंगळावुवेने पेळल्वेदि बंदुदुत्तरश्लोक-चतुष्टयम्–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)–*एवं विधात्मस्वरूपप्राप्तौ उपायं ब्रुवन्नाह*

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रमुपाया[1] स्वात्मलब्धये।
तत्त्वे याथात्म्य-सौस्थित्यमात्मनो दर्शनं स्मृतम् ।। 11 ।।

कन्नड़ टीका–(उपाया:) कारणमक्कुं (किम्) आवुदु? (सद्दृष्टि-ज्ञान-चारित्रम्) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रंगळ परिपूर्णते (कस्यै) आवुदक्के? (स्वात्मलब्धये) अनन्तज्ञानादिरूपमप्प स्वरूपप्राप्तिगे (तत्र दर्शनं किम्) अवदोळु दर्शनवावुदु? (दर्शनं स्मृतम्) दर्शनमेन्दु पेळेपट्टुदु (किम्) आवुदु? (याथात्म्य-सौस्थित्यम्) स्वरूपमनतिक्रमिसदे स्थिरमप्प निलवु (क्व) एल्लि? (तत्त्वे) स्वरूपदल्लि (कस्य) आवन? (आत्मन:) आत्मक्के।

संस्कृत टीका–*(स्वात्मलब्धये) निजात्मस्वरूपप्राप्तये (सद्दृष्टिज्ञानचारित्रम्) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि (उपाय:) कारणं, तेषु मध्ये, (तत्त्वे) सप्तविधतत्त्वेषु (आत्मन:) जीवस्य (याथात्म्य सौस्थित्यम्) वस्तुस्वरूपं यत्प्रकारेण स्थितं, तत्प्रकारेण श्रद्धानरूपाचलसुस्थितित्वं (दर्शनं स्मृतम्) सम्यक्त्वमभ्युपगम्यते। भेदकरणं व्यवहार, स एव निश्चयस्य कारणत्वात्–इत्युभयसम्यक्त्वस्वरूपमस्मिन् प्रतिपादितमिति भावार्थ:।*

उत्थानिका (कन्नड़)–उनमें से (पूर्वोक्त कर्ममोक्ष के उपायों में से) अभ्यन्तर कारण कौन-कौन से हैं? इसका उत्तर देने के लिए आये हैं आगे के चार श्लोक–

उत्थानिका (संस्कृत)–इस प्रकार आत्मस्वरूप की प्राप्ति के उपाय बताते हुए कहते हैं।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–कारण होंगे (हैं), कौन? सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता, किसके लिए? अनन्तज्ञानादिरूप आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिए। उनमें से दर्शन (का स्वरूप) क्या है? कहा गया है कि यह दर्शन है, किसको? स्वरूप (की मर्यादा) का अतिक्रमण किये बिना (उसमें) भली भाँति स्थिर होकर रहना, कहाँ? आत्मस्वरूप में, किसके? आत्मा के या अपने।

---

[1] 'मुपाय:' इति सं० प्रति पाठ:।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–निज-आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कारणभूत हैं; उनमें सात प्रकार के तत्त्वों में जीव का, वस्तुस्वरूप जिस प्रकार से स्थित है, उसी प्रकार से श्रद्धानरूप स्थिर सुस्थितिपना/भली भाँति रहना सम्यक्त्व माना गया है। भेद करने का नाम व्यवहार है, वही निश्चय का कारण होने से इसलिए उभय (निश्चय-व्यवहार दोनों) प्रकार के सम्यक्त्व का स्वरूप इसमें प्रतिपादित किया/बताया गया है–यह भावार्थ है।

विशेषार्थ–तत्त्वार्थसूत्रकर्त्ता आचार्य उमास्वामी ने '**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः**'[1] कहकर सम्यग्दर्शन आदि की एकता को मोक्षमार्ग बताया था, तो यहाँ पर इन तीनों की एकता को 'निजात्मतत्त्व की प्राप्ति का उपाय' बताया है। यद्यपि वस्तुगतरूप में इन दोनों कथनों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि 'कर्मबन्धन से मुक्ति' का ही दूसरा नाम 'निजशुद्धात्मतत्त्व की अविचल प्राप्ति' है। कर्मबन्धन का अभाव मोक्ष के बारे में नास्तिपरक कथन है, तो स्वात्मलब्धि उसी का अस्तिपरक निरूपण है। किन्तु इस शैली में कथन करके ग्रंथकार ने अपनी उत्कृष्ट आध्यात्मिक मानसिकता का परिचय दिया है। वस्तुतः अन्य किसी को हटाने के लिए पुरूषार्थ उतनी उग्रता से प्रवर्तित नहीं होता है, जितना कि अपने को कुछ प्राप्ति होने की आशा में जागृत होता है। अतः पुरूषार्थ जगाने की दृष्टि से यह कथनशैली अधिक व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक भी है।

'**तत्त्वे**' यह पद भी अत्यन्त गम्भीर है। 'आत्मा' या 'जीव' का प्रयोग संभवतः इतना सटीक नहीं रहता। 'जीवद्रव्य' या 'आत्मा' का पहिले विवेचन गुण-पर्यायात्मक एवं सामान्य-विशेषात्मक वस्तुविशेष के रूप में किया गया है; किन्तु अध्यात्मग्रन्थों में 'जीवतत्त्व' का स्वरूप 'त्रिकाली ध्रुव शुद्ध चैतन्यस्वभाव' के रूप में लिया जाता है, जिसमें गुणभेद एवं पर्यायभेद का विकल्प ग्राह्य नहीं होता है।[2] यहाँ 'तत्त्वे' पद का प्रयोग करके अकलंकदेव ने इसी 'दृष्टि के विषयभूत जीवतत्त्व' का ग्रहण किया हैं। कन्नड़ टीकाकार ने यही अभिप्राय लिया है।

'याथात्म्य' पद का अर्थ भी यहाँ विचारणीय है। टीकाकार ने इसकी व्याख्या 'जिस तरह से वस्तु का स्वरूप अवस्थित है, वैसा' के रूप में की है। यह "**ज्यों का त्यों सरधानो**" का सूचक है, अर्थात् वस्तु के स्वरूप का श्रद्धान न तो शास्त्र, न उपदेश और न ही क्षयोपशमजन्य विकल्पजाल से होता है; वह तो वस्तु के अनुरूप ही होना चाहिए। तथा वस्तु का स्वरूप अनुभवगम्य तो है, किन्तु विकल्पगम्य एवं शब्दगोचर नहीं है – यह भी 'याथात्म्य' पद से संकेतित है।

यहाँ 'दर्शन' पर सम्यग्दर्शन का सूचक है, किन्तु ग्रंथकार ने उसे '**आत्मनो दर्शनम्**' (आत्मदर्शन) कहकर निश्चय वीतराग सम्यग्दर्शन* की ओर अपना रुझान व्यक्त किया है।

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन ही आश्रय करने योग्य है, क्योंकि इसके होने पर ही 'ज्ञान' एवं 'चारित्र' सम्यक्पने को प्राप्त करते हैं।[3] सम्यग्दर्शन की महिमा का गुणगान करते हुए युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव ही पवित्र है, वही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। तथा सम्यग्दर्शन से रहित जीव उस वाञ्छित लाभ (सुख या मोक्ष) को ही नहीं पा सकता है।[4] उन्होंने इसे धर्म का मूल बताया है।[5] सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति बहुत शास्त्रों का ज्ञाता भी हो, उग्र तपस्वी भी हो, हजारों वर्षों तक तपस्या भी करे; तब भी वे बोधिलाभ को प्राप्त नहीं कर सकते हैं और संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।[6] जबकि सम्यक्त्व सहित जीवों पर पञ्चमकाल का दोष लागू नहीं पड़ता है तथा वे शीघ्र (दो-तीन भवों में ही) केवलज्ञान को प्राप्त कर लेंगे।[7]

सम्यग्दर्शन के आगमग्रन्थों में वर्णित विभिन्न लक्षणों का समन्वय पंडित टोडरमल जी ने भली-भाँति किया है।[8]

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, 1/1।
2. द्र० नियमसार, शुद्धभाव अधिकार

* पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 216, पद्म पंच 4/14।

3. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 21; तथा राजवार्तिक 1/1/31।
4. मोक्खपाहुड, 31।
5. 'दंसणमूलो धम्मो.......' – दंसणपाहुड, 2।
6. वही, 4,5।
7. वही, 6, 7।
8. मोक्षमार्ग प्रकाशक, नौवा अध्याय, पृ० 323 से 330 तक।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—सम्यग्दर्शनानन्तरं सम्यग्ज्ञानमं पेळल्वेडि बन्दुदुत्तर श्लोकं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—*सम्यग्ज्ञानस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह*—

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् ।
तत्स्वार्थव्यवसायात्मा कथञ्चित्प्रमितेः पृथक् ।। 12 ।।

कन्नड़ टीका—(सम्यग्ज्ञानम्) सम्यग्ज्ञानमक्कुं (का) आवुदु? (वस्तुनिर्णीतिः) वस्तुविन निर्णयं (कथम्) एन्तु? (यथावत्) एन्तिर्दुदन्ते (कथंभूतम्) एन्तप्पुदु? (स्वार्थव्यवसायात्मा) स्वपरप्रकाशकस्वभावं (किम्) आवुदु? (तत्) आ सम्यग्ज्ञानं (कथञ्चित्) एन्तरन्ते? (प्रदीपवत्) प्रदीपदन्ते (पुनरपि कीदृक्) मत्तमेंतप्पुदु? (पृथक्) बेरप्पुदु (कस्याः) आवुदरत्तणिंदं? (प्रमितेः) फलस्वरूपमप्प घट-पटादिज्ञानदत्तणिंदं (कथम्) एन्तु? (कथञ्चित्) संज्ञा-संख्यादिप्रकारदिंदं ।

संस्कृत टीका—*(यथावत्) वस्तुस्वरूपमनतिक्रम्य (वस्तुनिर्णीतिः) वस्तुविज्ञानं (सम्यग्ज्ञानम्) सम्यग्ज्ञानं स्यात् । (तत्) तत्सम्यग्ज्ञानं (प्रदीपवत्) प्रदीपो यथा स्वार्थव्यवसायात्मकः-स्वपरपदार्थप्रकाशकः, तद्वत् प्रदीपवत् । ततःज्ञानं (स्वार्थव्यवसायात्मा) स्वपरार्थप्रकाशकं (प्रमितेः) ज्ञानविशेषात् (कथञ्चित् पृथक्) कथञ्चिद् भिन्नं स्यात् । एवंविधज्ञानं स्वस्य फलरूपप्रमितेः सकाशात् सर्वथा भिन्नं स्यादिति भावः ।*

उत्थानिका (कन्नड़)—सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान को बताने के लिए आया है आगे का श्लोक—

उत्थानिका (संस्कृत)—सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

खण्डान्वय—यथावद् वस्तुनिर्णीतिः=ज्यों का त्यों वस्तु का निर्णयात्मक ज्ञान, सम्यग्ज्ञानं=सम्यग्ज्ञान (कहलाता) है। तत्=वह सम्यग्ज्ञान, प्रदीपवत्=दीपक के समान, स्वार्थव्यवसायात्मा=अपने एवं ज्ञेयभूतपदार्थ के निश्चयात्मक ज्ञानरूप (होता है) (और) प्रमितेः=प्रमिति से, कथञ्चित् पृथक्=कथंचित् भिन्न (होता है)।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)—सम्यग्ज्ञान होता है (कहलाता) है, कौन? वस्तु का यथार्थ निर्णय, कैसे? जैसा वह (पदार्थ) है, ठीक उसी प्रकार से। और कैसा है? अपने को और परवस्तु को प्रकाशित करने के स्वभाववाला है, कौन? वही सम्यग्ज्ञान, किस तरह से? दीपक की तरह। और किस तरह का है? अलग

रहता है, किन वस्तुओं से? फलस्वरूपी घट-पटादि वस्तुओं से, कैसे? संज्ञा एवं संख्या आदि के प्रकार की अपेक्षा से।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–वस्तुस्वरूप का अतिक्रमण किये बिना वस्तु का ज्ञानविशेष सम्यग्ज्ञान होता (कहलाता) है। वह सम्यग्ज्ञान, जैसे दीपक अपने और पदार्थों का निर्णयात्मक ज्ञान करता, अपना और परपदार्थों का प्रकाशक होता है, उसी के समान (वह ज्ञान होता है)। इसलिए ज्ञान अपने और परपदार्थ का प्रकाशक होता है (तथा) ज्ञानविशेषरूप प्रमिति से कथंचित् भिन्न होता है। इस प्रकार का ज्ञान अपनी फलरूप प्रमिति से सर्वथा भिन्न होता है- ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ–पिछले पद्य में 'सम्यग्दर्शन' का निरूपण करते समय अकलंकदेव की शैली विशुद्ध आध्यात्मिक रही, किन्तु यहाँ सम्यग्ज्ञान के वर्णन-प्रसंग में उनका न्यायविषयक ज्ञान मुखर हो उठा है और प्रमाणपरक शब्दों में न्यायशास्त्रीय शैली में उन्होंने सम्यग्ज्ञान का परिचय दिया है।

परीक्षामुखसूत्र के कर्त्ता आचार्य माणिक्यनन्दि ने प्रमाण का लक्षण- **"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्"** लिखा है तथा उनका यह ग्रंथ अकलंकदेव के वचनों पर आधारित है – ऐसा उनके टीकाकार स्वीकार करते हैं –

"अकलंकवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।"[1]

यहाँ पर स्वव्यवसायात्मक एवं अर्थव्यवसायात्मक ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान माना है। परीक्षामुख में भी प्रमाण का यही स्वरूप माना गया है। वहाँ ज्ञान का स्वपरप्रकाशकत्व सिद्ध करने के लिए 'प्रदीपवत्' दृष्टान्त भी दिया गया है। प्रमाणम्"[2] के रूप में 'प्रमाण' की न्यायशास्त्रीय चर्चा को यहाँ प्रस्तुत कर दिया है। प्रमिति को प्रमाण का फल कहा गया है और उसे सम्यग्ज्ञानरूप होने से प्रमाण से अभिन्न भी माना गया है तथा फलरूप होने से प्रमाण से भिन्न भी माना गया है। इस प्रकार प्रमाण एवं प्रमाणफल की कथंचित् भिन्नाभिन्नता प्रमाणविषयक न्यायशास्त्रीय विवेचन का प्रमुख अंग है।

चूंकि यौगमतावलम्बी[3] प्रमाण से प्रमिति को सर्वथा भिन्न मानते हैं तथा बौद्ध सर्वथा अभिन्न मानते हैं,[4] उन दोनों के मतों का निराकरण करते हुए प्रमिति से ज्ञान की भिन्नाभिन्नता यहाँ बतायी गयी है।

प्रमाण की परिभाषा में पहला पद है 'स्व'। जब तक ज्ञान स्वयं को नहीं जानेगा, वह पदार्थ को भी नहीं जान सकेगा। जैसे कि दीपक जब तक स्वयं प्रकाशित नहीं होगा, वह घर पर पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। ज्ञान

की यह स्वप्रकाशकता मात्र न्यायशास्त्र में ही मानी गयी हो ऐसा नहीं है। अध्यात्मयुग के प्रमुख आचार्य अमृतचंद्र ने भी आबाल-गोपाल को स्वयं का (आत्मा का) ज्ञान होना माना है,[5] किन्तु उसे आत्मानुभवी के ज्ञान की तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष नहीं माना है। वह ज्ञान घट-पटादि परपदार्थों को जैसा निर्णयात्मकरूप से जानता है, वैसे अपने आपको निर्णयात्मकरूप से स्पष्ट नहीं जानता है।

'व्यवसायात्मक' पद का अर्थ है निर्णयात्मक ज्ञान। इसका 'स्व' एवं 'अर्थ'– इन दोनों पदों के साथ प्रयोग होगा–'स्वव्यवसायात्मक' एवं 'अर्थव्यवसायात्मक'। ज्ञान निर्णयात्मक हो, तभी प्रमाण माना गया है; संशय या अनिर्णय से युक्त ज्ञान को प्रमाण नहीं माना गया है। साथ ही वह निर्णय सम्यक् (वस्तुस्वरूप के अनुसार) होना चाहिए, विपरीत नहीं; अन्यथा उसे 'विपर्यय' ज्ञान कहकर अप्रमाण कह दिया जायेगा।

प्रमाणफल (प्रमिति) की प्रमाण (ज्ञान) से भिन्नता और अभिन्नता दो रूपों में मानी गयी है। एक तो प्रमाण का साक्षात् फल-अज्ञान की निवृत्ति के रूप में प्रमाण और प्रमिति अभिन्न हैं। तथा परम्पराफल (त्याग-ग्रहण आदि) के रूप में प्रमिति प्रमाण से भिन्न मानी गयी है।[6] दूसरे रूप में द्रव्यात्मकरूप में प्रमिति प्रमाण से अभिन्न एवं पर्यायात्मकरूप में भिन्न मानी गयी है।[7] यही अभिप्राय 'कथञ्चित्प्रमितेर्पृथक्' इस वाक्यांश द्वारा अकलंकदेव ने यहाँ सूचित किया है।

'यथावद् वस्तुनिर्णीति सम्यग्ज्ञानम्' कहकर यहाँ सम्यग्ज्ञान का अध्यात्मगत परिचय भी दिया है। साथ ही प्रमाणपरक न्यायशास्त्रीय परिचय भी दिया गया है, जो कि ऊपर स्पष्ट किया गया है।

---

1. प्रमेयरत्नमाला, मंगलाचरण; पद्य 2।
2. न्यायदीपिका, 1/8 पृ० 9।
3. द्र० न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ 208।
4. द्र० जैनदर्शन (डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य) पृ० 294।
5. समयसार, गाथा 16-17 की आत्मख्याति टीका।
6. द्र० जैनन्याय (पं० कैलाशचन्द शास्त्री) पृष्ठ 337।
7. द्र० जैनदर्शन (डॉ० महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य) पृ० 294।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—इन्तु परवने प्रकाशिसुवुदु मत्तोन्दने प्रकाशिसुवुदु आ ज्ञानमुं स्वकार्य ज्ञानदत्तणिं भिन्नमो मेणभिन्नमो?—एंब यौगसौगतमतमं निराकरिसि सम्यग्ज्ञानानन्तरं सम्य क्चारित्रमं पेळल्वेडि बंदुदुत्तरश्लोकं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—*(श्लोकद्वयम्) सम्यक्चारित्रस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—*

दर्शन–ज्ञान–पर्यायेषूत्तरोत्तरभाविषु ।
स्थिरमालम्बनं यद्वा माध्यस्थं सुख–दु:खयो: ।। 13 ।।
ज्ञाता: द्रष्टाहमेकोऽहं सुखे–दु:खे न चापर: ।
इतीदं भावनादार्ढ्यं चारित्रमथवा मतम् ।। 14 ।।

कन्नड़ टीका—(मतम्) ओडं बडल्पट्टुवु (किम्) आवुदु (चारित्रम्) चारित्रमेंदु (किम्) आवुदु? (स्थिरमालम्बनम्) स्थिरमागि तनगे ताने विषयमप्पुदु (केषु) आवरावुवरोळु? (दर्शन–ज्ञान–पर्यायेषु) दर्शनज्ञानादिपर्यायंगळोळु, (कथंभूतेषु) एन्तप्पुवरोळु? (उत्तरोत्तरभाविषु) मेले–मेले कारणकार्यरूपदिं परिणमिसुववरोळु (यद्वा) मत्तोंदु मेणु (किम्) आवुदु? (माध्यस्थम्) समत्वीभावं (कयो:) आवुवरोळु? (सुख–दु:खयो:) सुख–दु:खंगळोळु ।। 13 ।।

(अथवा चारित्रं मतम्) एन्तु मेणु चारित्रमोडंबडल्पट्टुदु? (किम्) आवुदु? (इदं भावना–दार्ढ्यम्) स्वरूप–परिचिन्तनस्थैर्य (कथम्) एन्तु? (इति) इन्तु (इति कथम्) इन्तेम्बुदेंतु? (ज्ञाता) अरिव स्वभावमने (द्रष्टा) काण्ब (क:) आवं? (अहम्) आनु (पुनरपि कथंभूत:) मत्ते एन्तप्पं? (एकोऽहम्) आवनोर्वने (क्व) एल्लि? (सुखे) सुखदोळु (दु:खे च) दु:खदोळं (नापर:) मत्तोर्वनिल्ल ।। 14 ।।

संस्कृत टीका—*(उत्तरोत्तरभाविषु) अग्रेऽग्रेभाविषु (दर्शनज्ञानपर्यायेषु) दर्शनज्ञानोत्कर्षेषु (स्थिरम्) अचलम् (आलम्बनम्) आश्रय: चारित्रमुच्यते । (यद्वा) यत्पुनर्वा (सुख–दु:खयो: माध्यस्थम्) हर्ष–विषादरहितोदासीनभावस्तत् चारित्रं स्यात् ।। 13 ।।*

अथवा, (ज्ञाता) बोद्धा (द्रष्टा) लोकिता (अहम्) अहमेव । (सुखे–दु:खे च) सुखे दु:खेऽपि च (अहमेक:) अहमेवैक: (अपर:) अन्य: (न) न च । (इतीदं भावनादार्ढ्यम्) इत्येवंविधभावनादृढत्वं (चारित्रम्) चारित्रमिति (मतम्) सम्मतम् । समीचीनश्रद्धानज्ञानपूर्वकत्वेनेतरपदार्थाश्रितं चरणं व्यवहारचारित्रमुक्तम् । निजात्मस्वरूपे स्थित्वाऽचलस्थितिर्निश्चयचारित्रमुक्तं भवतीति भाव: ।। 14 ।।

उत्थानिका (कन्नड़)–इस प्रकार परवस्तु को ही प्रकाशित करना और एक (अपने) को प्रकाशित करना इस ज्ञान के अपने कार्य से भिन्न है अथवा अभिन्न है?– ऐसा यौगवादियों एवं बौद्धों के मत का निराकरण करके सम्यग्ज्ञान (का स्वरूप बताया, अब उस) के बाद सम्यक्चारित्र का वर्णन करने के लिए आगे का श्लोक आया है।

उत्थानिका (संस्कृत)–(दो श्लोकों द्वारा युगपत्) सम्यक्चारित्र का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं।

खण्डान्वय–उत्तरोत्तरभाविषु=आगे-आगे होने वाली, दर्शनज्ञानपर्यायेषु=दर्शन और ज्ञान की पर्यायों, में स्थिरम्=दृढ़, आलम्बनं=आलम्बन करना, वा=अथवा, यद्=जो, सुखदु:खयो:=सुख और दु:ख में, माध्यस्थं=माध्यस्थ भाव का होना (ही चारित्र है)।

अथवा=अथवा, सुखे=में, च=और, दु:खे=दु:ख में, अहं=मैं, एक:=एकमात्र, ज्ञाता-दृष्टा=जानने-देखने वाला हूँ, अपर: न=अन्य कोई (किसी रूप) नहीं हूँ– इति=इस प्रकार की, इदं=इस, भावनादार्ढ्यं=भावना की दृढ़ता को, चारित्रं मतम्=चारित्र माना गया है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–स्वीकार किया गया है क्या (स्वीकार किया गया है)? चारित्र है–ऐसा (स्वीकार किया गया है), किसे? अपने आप ही स्थिर होकर विषय बन जाता है, किन-किन विषयों में? दर्शन और ज्ञान की पर्यायों में, किस प्रकार की प्रर्यायों में? पुन:-पुन: कारण-कार्यरूप से परिणमित होने वाली (पर्यायों) में। अथवा दूसरे (प्रकार से कहें, तो) कौन-कौन? समत्वीभाव से या साम्यभाव से, किन-किन भावों में? सुख और दु:खों में।

अथवा यह चारित्र है–यह कैसे माना गया है? किसे? अपने स्वरूप के परिचिन्तनरूप स्थिरता को, कैसे? जाननस्वभाववाला एवं देखनेवाला, (वह) कौन है? (वह) मैं (स्वयं) हूँ। और किस प्रकार का है? अकेला ही है, कहाँ है? सुख में और दु:ख में भी, अन्य कोई भी (उसका सहभागी) नहीं है।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–आगे-आगे होने वाली दर्शन और ज्ञान (की पर्यायों) के उत्कर्षों में अविचल होकर आश्रय लेना चारित्र कहा गया है। अथवा पुन: जो हर्ष-विषाद से रहित उदासीनभाव है, वही चारित्र है –(ऐसा जानना चाहिए)।

अथवा जाननेवाला और देखनेवाला (तत्त्व) मैं ही हूँ, सुख में तथा दु:ख में,

मैं ही एकमात्र (ज्ञातादृष्टा) हूँ, अन्य कोई नहीं है– इस प्रकार की भावना की दृढ़ता चारित्र है–ऐसा स्वीकार किया गया है। समीचीन (सम्यक्) श्रद्धान और ज्ञानपूर्वक जो अन्य पदार्थों पर आश्रित चरण (क्रिया-आचरण) है, उसे व्यवहार चारित्र कहा गया है; (तथा) निजात्मस्वरूप में ठहर कर अविचल स्थिति करना, (उसे) निश्चय चारित्र कहा गया है–ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ:-सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में न्यायशास्त्रीय विशेषज्ञता की हल्की-सी झलक दिखाने के बाद सम्यक्चरित्र का निरूपण करने वाले इस पद्य (13वें) में अकलंकदेव के स्वर पुनः विशुद्ध आध्यात्मिक हो गये हैं। तत्त्वार्थराजवार्तिक[1] में उन्होंने संसार की कारणभूत क्रियाओं की निवृत्ति के लिए तत्पर ज्ञानी के बहिरंग एवं अन्तरंग तप आदि को 'सम्यक्चारित्र' कहा है, जबकि यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों में ही आध्यात्मिक दृष्टि की प्रधानता रखी है।

उन्होंने निरन्तर होने वाली दर्शन और ज्ञान की पर्यायों अथवा 'उपयोग' का विषयभूत (आलम्बन) पदार्थ एक ही बना रहना (स्थिर बना रहना) अर्थात् ध्रुवज्ञायक शुद्धात्मस्वरूप का निरन्तर उपयोग का विषय रहना ही 'निश्चय सम्यक्चारित्र' है - ऐसा कहा है। तथा बाह्य क्रियाओं को करने अथवा बाह्य वस्तुओं के त्याग-ग्रहण आदि को 'व्यवहारचारित्र' कहने की अपेक्षा उन्होंने सुख और दुःख की समस्त स्थितियों/संयोगों में हर्ष या विषाद से रहित होकर माध्यस्थ भाव रखने को व्यवहारचारित्र बतलाया है।

आचार्यप्रवर कुन्दकुन्दप्रणीत 'नियमसार'[2] से लेकर कविवर दौलतराम जी विरचित 'छहढाला'[3] पर्यन्त समस्त आध्यात्मिक ग्रन्थों में सम्यक्चारित्र का लगभग ऐसा ही आध्यात्मिकदृष्टिप्रधान वर्णन प्राप्त होता है।

चौदहवें पद्य में सम्यक्चारित्र विषयक इसी चर्चा का और खुलासा करते हुए 'माध्यस्थ भावना' को समझाया है। आचार्यदेव कहते हैं कि सुख और दुःख की प्रत्येक परिस्थिति में, साता और असाता के उदय की हर स्थिति में अपने आपको उसका ज्ञाता-दृष्टा अनुभव करना चाहिए, उसका कर्त्ता या भोक्ता नहीं समझना चाहिए। 'मैं एक ज्ञायकमात्र हूँ' - इसी भावना की दृढ़ता को उन्होंने 'सम्यक्चारित्र' बताया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भेदविज्ञान का अभ्यास होने पर जीव 'मध्यस्थ' (माध्यस्थ भावना युक्त) होता है–ऐसा स्वीकार किया है, तथा कहा है कि इस माध्यस्थ भावना से ही चारित्र अर्थात् निश्चयचारित्र की उत्पत्ति होती है।[4] चूंकि व्यवहार निश्चय का हेतु (साधक) होता है;[5] अतः माध्यस्थ भावना साधक होने

से व्यवहार चारित्र हुई और निश्चय चारित्र उसका साध्य हुआ।

भावना–आत्मा के द्वारा जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, उसे 'भावना' कहते हैं[6] अथवा जाने हुए पदार्थ का पुन: पुन: चिन्तन करना भावना है।[7] अत: "मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, एक हूँ" इत्यादिरूप से निरन्तर चिन्तन चलना चाहिए; वह व्यवहार चारित्र है तथा ऐसी आत्मानुभूति होना निश्चयचारित्र है। यह आत्मभावनारूप व्यवहारचारित्र आत्मानुभूतिरूप निश्चयचारित्र को प्राप्त कराता है।

आगम में 'माध्यस्थ भावना' को व्रतों की रक्षणार्थ बतायी गयी 'मैत्री' आदि चार भावनाओं में परिगणित किया गया है।[8] तथा उनमें माध्यस्थ भावना का स्वरूप 'अविनीत/दुर्जन या विपरीतवृत्ति लोगों के प्रति तटस्थ भाव रखने को 'माध्यस्थ भावना' कहा गया है।[9] किन्तु यहाँ प्रयुक्त 'माध्यस्थ भावना' का अर्थ व्यापक एवं स्वरूप अति उदात्त है। इसमें सुख-दु:ख में समताभावपूर्वक "मैं ज्ञायकमात्र हूँ" – ऐसे चिन्तन की निरन्तरता को 'माध्यस्थ भावना' कहा गया है। यह अकलंकदेव की उत्कृष्ट आध्यात्मिकता का परिचायक है।

---

[1] तत्त्वार्थराजवार्तिक; 1/1/3।

[2] नियमसार, गाथा 83।

[3] छहढाला, तीसरी ढाल, पद्य प्रथम।

[4] नियमसार, गाथा 82 एवं टीका।

[5] "जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारणसो व्यवहारो।" – छहढाला; तथा समयसार, गाथा 8।

[6] तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7/3/1।

[7] पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गा० 46।

[8] तत्त्वार्थसूत्र, 7/11 ज्ञानार्णव 27/4।

[9] अमितगति सामायिकपाठ, 1।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—इन्तु कर्मंगळ केडिंगे अन्तरोपायमं पेळ्दु बाह्योपायमं पेळल्वेदि बन्दुदुत्तरश्लोकं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—*एवं मुक्तेर्मुख्यकारणं रत्नत्रयस्वरूपं निरूप्य एतन्मुख्यहेतोर्बाह्यसहकारिकारणं प्रवक्तुमाह—*

यदेतन्मूलहेतो: स्यात् कारणं सहकारकम् ।
तदबाह्यं देश–कालादिस्तपश्च बहिरङ्गकम् ।। 15 ।।

कन्नड़ टीका—(स्यात्) अक्कुं (बाह्यम्) बाह्यकारणं, (किम्) आवुदु (?) (तत्) अदु, (तत्किम्) अदेम्बुदावुदु? (देशकालादि:) द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावंगळु (न केवलमेतत्) केवलमिदेपेंबुदिल्ल (तपश्च) तपमुं (कथंभूतम्) एन्तप्पुदु? (बहिरंगकम्) बाह्यरूपमप्पुदु (यदेतत् किं भूतम्) आवुदोंदु देशकालादिमुं तपमुमेंतप्पुदु (कारणं सहकारकम्) सहकारी कारणमप्पुदु (कस्य) आवुदक्के? (मूलहेतो:) मुख्यरत्नत्रयक्के ।

संस्कृत टीका—*(मूलहेतो:) मोक्षस्य मुख्यकारणरत्नत्रयस्य (बाह्यम् यद्देशकालादि) कर्मक्षयकरणे उपयोगी यद्देश–काल–संहननादि, तद् (बहिरंगकम्) अनशनादि बाह्यमेततपश्च, (सहकारकं कारणम्) सहकारि कारणं स्यात् । एवमुभयसामग्रीं बिनानन्तसुखस्वरूपप्रमोक्षप्राप्तिर्न स्यादिति भावार्थ: ।*

उत्थानिका (कन्नड़)—इस प्रकार से कर्मों के विनाश के लिए आन्तरिक उपाय बताने के बाद बाह्य उपायों को बताने के लिए यह आगे का श्लोक आया है।

उत्थानिका (संस्कृत)—इस प्रकार मोक्ष के मुख्यकारण रत्नत्रय का स्वरूप बताकर उस मुख्य (रत्नत्रय) के बाह्य सहकारी कारणों को बताने के लिए कहते हैं—

खण्डान्वय:—यदेतत्=जो यह, मूलहेतो:=(रत्नत्रयरूपी) मूलकारण का, सहकारकं कारणं=सहकारी कारण, स्यात्=होता है, तद्बाह्यं=उसके अतिरिक्त, (यत्=जो) देशकालादि:=क्षेत्र-काल आदि (रूप कारणचतुष्टय) च=और तप:=(अनशनादिरूप बाह्य) तप भी, बहिरंगकम्=बहिरंग (कारण) हैं।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)—होता है बहिरंग कारण, कौन? वह, वह कौन? द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव आदि। केवल इतना ही नहीं, तप भी (बहिरंग कारण होता है) किस प्रकार का तप (बहिरंग कारण होता है)? बाह्यरूप तप, जो यह देश-कालादि और तप है, वह कैसा होगा? सहकारी कारण बन सकेगा। किसका? मुख्य रत्नत्रय का।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–मोक्ष के मुख्य कारण रत्नत्रय का, कर्मक्षय करने में उपयोगी जो देश-काल संहनन आदि (कारणभूत कहा गया है)–वह बहिरंग है, (तथा) अनशन आदि रूप यह बाह्य तप भी (बहिरंग कारण होता है) सहकारी कारण होता है। इस प्रकार दोनों प्रकार की (मुख्य एवं सहकारी) सामग्री के बिना अनन्तसुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है–ऐसा भावार्थ है।

विशेषार्थ:–विगत दो पद्यों में प्रतिपादित सम्यक्चारित्र के आध्यात्मिक स्वरूप को इस पद्य में अकलंकदेव ने मोक्ष का मूलहेतु/वास्तविक साधन माना है। उसे ही वास्तविक सम्यक्चारित्र स्पष्ट शब्दों में कहा है। साथ ही अन्तरंग में ज्ञायक तत्त्व की अविचल प्रतीति रहते हुए बाहर में जो कर्मक्षय करने के लिए उचित क्षेत्र (आर्यखण्ड आदि) एवं उचित काल (चतुर्थ काल आदि) की अनुकूलता शास्त्रों में प्रतिपादित की है, उसे तथा अनशन-अवमौदर्य आदि बाह्य तप को भी उस 'निश्चय मोक्षमार्ग' के सहयोगी होने से 'व्यवहार मोक्षमार्ग' बताकर निश्चय-व्यवहार का सन्तुलन स्थापित किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में सभी अध्यात्मवेत्ताओं ने निश्चयदृष्टि से कितना ही सूक्ष्म वर्णन किया; किन्तु व्यवहारपक्ष की नितान्त उपेक्षा उन्होंने कभी भी, कहीं भी नहीं की है। क्योंकि जिस साधक के निश्चय मोक्षमार्ग होता है, उसके जीवन में मोक्षमार्ग का व्यवहार पक्ष भी होता ही है; अत: उसे यह समझाना आवश्यक नहीं था। किन्तु वे आचार्य जानते थे कि उनके ग्रन्थों के जो पाठक हैं, उनमें प्राय: सामान्य संसारी प्राणी होंगे; अत: वे कहीं निश्चयाभास को ग्रहण कर मोक्षमार्ग के बाह्यरूप का उपहास उड़ाते न घूमें - इस दृष्टि से भी उन्होंने निश्चय के साथ ही व्यवहार का कथन आवश्यक समझा।

वास्तव में निश्चय और व्यवहार की दृष्टि को भली-भाँति समझे बिना जिन-प्रवचन के रहस्य को कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। महान् अध्यात्मवेत्ता आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि "व्यवहार और निश्चय के जो वास्तविक रूप में जाकर जो जीव मध्यस्थ (निश्चय या व्यवहार, किसी का भी पक्षपाती हुए बिना) हो जाता है, वही देशना (दिव्यध्वनि) के सम्पूर्ण एवं अविचल फल को प्राप्त करता है।"[1] आचार्य अमृतचन्द्र ने भी लिखा है कि "व्यवहार नय के बिना 'तीर्थ' का नाश हो जायेगा तथा निश्चय नय के बिना तत्त्व नष्ट हो जायेगा। अत: हे भव्य जीवो ! यदि तुम जिनमत में प्रवर्तना चाहते हो, तो दोनों नयों को मत छोड़ो।"[2]

'पंचास्तिकाय-संग्रह' में मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय का वर्णन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने "छह द्रव्य-सात तत्त्व-पंचास्तिकाय एवं नवपदार्थों के श्रद्धान को 'सम्यग्दर्शन'; उनके ही ज्ञान को 'सम्यग्ज्ञान' तथा विषय-विरक्त जीवों को समताभाव को 'सम्यक्चारित्र' कहा है।"[3] तो 'द्रव्यसंग्रह' में उक्त भेदात्मक रत्नत्रय को व्यवहार मोक्षमार्ग तथा इन तीनों से समन्वित आत्मा को निश्चय मोक्षमार्ग बताया है।[4] आचार्य अमृतचन्द्र ने निश्चय-व्यवहार की द्विविधा मिटाते हुए साधक को स्पष्ट निर्देश कर दिया कि "दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय एक आत्मतत्त्व ही मोक्षमार्ग में सेवन करने योग्य है।" चूंकि रत्नत्रय (भेदात्मक व्यवहार मोक्षमार्ग) आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहता है, अत: रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्ष का कारण (मोक्षमार्ग) है।[5] अन्यत्र[6] भी निश्चय रत्नत्रय का ऐसा ही स्वरूप बताकर उसके अनुचरण की प्रेरणा दी गयी है।

द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव सूरि ने तो निश्चय मोक्षमार्ग के बासठ पर्यायवाची नामों को भी गिनाया है।[7] प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में कहा है कि "समस्त ही पदार्थ भेदात्मक हैं, अत: उभयग्राही प्रमाण से वे दोनों अर्थात् रत्नत्रय (व्यवहार मोक्षमार्ग) तथा एकाग्रता (निश्चय मोक्षमार्ग) मोक्षमार्ग हैं।"[8]

---

1. व्यवहार-निश्चयौ य: प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ: ।
   प्राप्नोति देशनाया: स एव फलमविकलं शिष्य: ।। – पुरुषार्थसिद्धयुपाय।
2. समयसार, गाथा 46 की 'आत्मख्याति' टीका।
3. पंचास्तिकाय, गाथा 107 एवं टीकायें। तथा समयसार, गाथा 155।
4. बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 39।
5. समयसार कलश, 239 तथा बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 40।
6. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 216; पद्म० पंच०, 4/14।
7. द्रव्यसंग्रह, गाथा 56 की टीका।
8. प्रवचनसार, गाथा 242 की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—इंतु कर्मविनाशहेतुभूत-बाह्याभ्यन्तरोपायंगळं पेळ्दु स्वात्मभावनेयं पेळल्वेडि बंदुदुत्तरश्लोकम्—

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—*एवं प्रागुक्तं सर्वं सुविचार्य अनेन प्रकारेण भावना कुर्यादित्याह*—

इतीदं सर्वमालोच्य सौस्थ्ये-दौस्थ्ये च शक्तितः ।
आत्मनो[1] भावयेत् तत्त्वं[2] राग-द्वेष-विवर्जितम् ।। 16 ।।

कन्नड़ टीका—(भावयेत्) भाविसुगे (किम्) एनं? (तत्त्वम्) परमतत्त्वं, (कथंभूतम्) एन्तप्पुदु? (राग-द्वेष-विवर्जितम्) राग-द्वेष-रहितमप्पुदुं (कस्य) आवुदरं? (आत्मनः) तन्न, (कथम्) एन्तु? (शक्तितः) तन्न शक्तियं मीरदे, (क्व) एल्लि? (सौस्थ्ये) स्वस्थनप्पेडेयोळं (दौस्थ्ये च) दुःस्थितियप्पेडेयोळं, (किं कृत्वा) एनं माडि? (आलोच्य) नोडि, (किम्) आवुदं? (इदं सर्वम्) इदेल्लमं, (कथम्) एन्तु? (इति) ई पेळ्द तेरदिंदं ।

संस्कृत टीका—*(इतीदं सर्वमालोच्य) इत्येवं सर्वं सुविचार्य श्रद्धालुः (सौस्थ्ये) सुस्थत्वे (दौस्थ्ये च) दुःस्थत्वे च (राग-द्वेष-विवर्जितम्) रागद्वेषैर्विवर्जितम् (आत्मानं) जीवं (शक्तितः) स्वशक्तितः (नित्यम्) सर्वदा (भावयेत्) चिन्तयेत् । एवं भवेत् वीतरागस्वरूपनिर्विकल्पावस्था लभेति भावार्थः ।*

उत्थानिका (कन्नड़)—इस प्रकार कर्म के विनाश के कारणभूत बाह्य और अभ्यन्तर उपायों को बनाने के बाद निज आत्मभावना को स्पष्टरूप से प्रतिपादन करने हेतु आया है अग्रिमश्लोक।

उत्थानिका (संस्कृत)—इस प्रकार पहले कहे गये सब (तथ्यों) का अच्छी तरह विचारकर इस प्रकार से भावना करनी चाहिए।

खण्डान्वय—इति=इस प्रकार से, इदं सर्वं=यह सब, आलोच्य=विचार करके, सौस्थ्ये=सुस्थिति में, दौस्थ्ये=दुःस्थिति में, शक्तितः=शक्तिपूर्वक, आत्मनः=अपने, राग-द्वेष-विवर्जितं=राग और द्वेष से रहित, तत्त्वं=निजात्मतत्त्व की, भावयेत्=भावना करनी चाहिए।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)—चिन्तन करना चाहिए, किसका? परमोत्कृष्ट तत्त्व का, किस तरह का (चिन्तन) है? राग और द्वेष से रहित है, किसका?

---

[1] 'आत्मानं' – इति सं० प्रति पाठः।

अपना, कैसे? अपनी शक्ति के अनुसार (चिन्तन करना चाहिए), कहाँ? सुस्थिति में रहने पर (या) दु:स्थिति में रहने पर, क्या करना चाहिए? खूब सोच-विचार करके, किसका? इन सबका, कैसे? जैसे ऊपर कहा जा चुका है, (वैसे ही चिन्तन करना चाहिए)।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–इस प्रकार से सबका भली-भाँति विचार करके श्रद्धालु (व्यक्ति को) सुख/सदवस्था में और दुरवस्था में राग-द्वेष (आदि) से रहित आत्मा को अपनी शक्ति के अनुसार सर्वदा चिन्तन करना चाहिए, ऐसा हो जाना चाहिए। वीतरागस्वरूप निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करो–ऐसा भावार्थ है।

विशेषार्थ–इस पद्य में आगत **'इति'** पद का बहुत व्यापक अर्थ है। पिछले पन्द्रह पद्यों में जो भी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मतत्त्व का एवं मोक्षमार्ग का वर्णन किया है, वह सम्पूर्ण इस 'इति' शब्द से यहाँ ग्रहण किया गया है। न केवल इस ग्रन्थ में, अपितु सम्पूर्ण जिनागम में जितना भी इस विषय को लेकर कथन किया गया है, वह समस्त यहाँ इस शब्द के द्वारा लिया जा सकता है। अन्यथा अकलंकदेव 'इति' के साथ **'इदं सर्वम्'**– इन दो पदों का प्रयोग नहीं करते।

'आलोच्य' पद का प्रयोग यहाँ बहुत व्यापक अर्थ को लिए हुए है। ऊपर कहे गये सम्पूर्ण वर्णन की 'भलीभाँति समालोचना करके', उसे 'ज्यों का त्यों समझकर' –यह संक्षेपतः इस शब्द का अभिप्राय माना जा सकता है। यदि पूर्वाग्रह या पक्षपात से आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन होगा, तो भी व्यक्ति उनके मर्म को ठीक ढंग से नहीं समझ पायेगा। तथा यदि निष्पक्ष होने के साथ-साथ पूर्ण जागरूक हुए बिना उनका अध्ययन होगा, तब भी आध्यात्मिक-ग्रन्थों को पढ़ने का सच्चा फल नहीं मिल सकेगा।

वह सच्चा फल क्या है? इसका निर्देश भी आचार्यदेव ने इस पद्य में कर दिया है कि इस अध्यात्मतत्त्व को भली-भाँति समझकर जीव अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में उनसे प्रभावित हुए बिना यथाशक्ति निजशुद्धात्मतत्त्व की भावना करता है। उसकी भावना में राग-द्वेष या पक्षपात की वृत्ति नहीं होती है।

'शक्तितः' – इस पद का प्रयोग सोच-विचारकर किया गया है। क्योंकि संसारी जीवों के कदाचित् संयोग-वियोग में विचलित होने के प्रसंग बनते हैं; भरत का बाहुबलि पर चक्र चलाना एवं राम के द्वारा लक्ष्मण का शव लिए घूमना आदि ऐसे अनेकों प्रसंग महापुरुषों के जीवन में भी बने हैं। प्रथमानुयोग इसका साक्षी

है। अत: पाठक क्या करे? यदि परिणामों में विचलितता आ जाये, तो वह साधक हीन भावना से ग्रस्त न हो; इस निमित्त यहाँ 'शक्तित:' पद का सुविचारित प्रयोग किया है। इसके द्वारा अकलंकदेव कहना चाहते हैं कि लोक में अन्य जीवों की स्थिति क्या रहती है? अथवा महापुरूषों के जीवन के घटनाक्रम क्या कैसे रहे हैं? यह सब सोचना-विचारना अथवा इनके आधार पर अपनी परिणति का निर्णय करना साधक जीव को उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्येक जीव के परिणामों की स्थिति व उनके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भिन्न-भिन्न होते हैं, अत: उनके आधार पर अपने परिणामों का निर्णय करना संभव नहीं है। अत: यदि कदाचित् परिणामों में विचलितता आ भी जाये, तो भी उसके कारण किसी भी तरह की हीनभावना या अन्यथा भाव लाये बिना अपने परिणामों एवं सामर्थ्य का विचार करके बुद्धिपूर्वक राग-द्वेषपरक चिन्तन से उपयोग को हटाकर निजशुद्धात्मतत्त्व की उत्कृष्ट भावना करनी चाहिए।

यहाँ 'राग-द्वेष-विवर्जितम्' यह पद 'तत्त्वं' का विशेषण है। अत: आत्मतत्त्व राग-द्वेषादि विकारों भावों से रहित है। राग-द्वेष—ये औदयिक भाव हैं, अध्यवसान भाव हैं;[1] जबकि ध्यान का विषयभूत[2] आत्मतत्त्व परमपारिणामिकभावरूप[3] है, उसमें राग-द्वेषादि भावों के विकल्प की भी गुंजाइश नहीं है। इसी परमपारिणामिक भावरूप आत्मतत्त्व की भावना/अनुभूति का फल 'वीतराग-स्वरूपनिर्विकल्पावस्था' है--जो कि संस्कृत टीकाकार ने संकेतित किया है।

---

[1] विशेष द्र० समयसार, गाथा 270 की 'आत्मख्याति' टीका।

[2] द्र० नियमसार, गाथा 151 की टीका; एवं तिलोयपण्णत्ति, 9/41; महापुराण, 21/18।

[3] द्र० नियमसार, गाथा 41 की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका; बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 57 की टीका। द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा 198, एवं विशेषार्थ पृष्ठ 109।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–राग-द्वेषसहितनागि आत्मस्वरूपं भाविसे दोषमावुदेने पेळल्वेडि बन्दुदुत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)–*राग-द्वेष-रहितः सन् आत्मभावनां कुर्यादित्युक्तं भवद्भिः, सरागः सन् भावना क्रियते चेद् विरोधः, स क इत्याशंकायामाह–*

कषायै रंजितं चित्तस्तत्त्वं नैवावगाहते।
नीली-रक्तेऽम्बरे रागो दुराधेयो हि कौंकुमः।। 17।।

कन्नड़ टीका–(नैवावगाहते) पोर्दुवुल्लदु (तत्त्वम्) मोक्षक्के कारणमप्प निजशुद्धात्मस्वरूपमं भाविसे (कथम्) एन्तु? (हि) येंतीग (दुराधेयः) निलिसल्बारदु (कः) आवुदु? (रागः) केम्पु (कथंभूतम्) एन्तप्पुदु? (कौंकुमः) कुंकुमसंबंधियप्पुदु (क्व) एल्लि? (अम्बरे) वस्त्रदोळुं, (कथंभूते) एन्तप्प वस्त्रदोळु? (नीलीरक्ते) नीलीद्रव्यदोळ् कूडिद।

संस्कृत टीका–*(नीलीरक्ते) नील्यावर्णीकृते (अम्बरे) वस्त्रे (कौंकुमो रागः) कुंकुमस्य वर्णः (दुराधेयः) दुःखेन महता कष्टेन धार्यः यथा स्यात् तथा, (कषायैः) रागादिकषायैः (रंजितम्) कलुषितं (चेतः) चित्तं (तत्त्वं) वस्तुरूपं (हि) येन कारणेन (नैवावगाहते) निश्चितमशक्तम्। तेन कारणेन रागादिदोषान् परिहरति सती भवेत्। तेन स्वास्थ्येन वस्तुस्वरूपज्ञानं स्यात्। तेन वस्तुस्वरूपज्ञानेन शुद्धात्मभावना लभ्यत-इति भावार्थः।*

उत्थानिका (कन्नड़)–राग-द्वेष के साथ आत्मस्वरूप का चिन्तन करने से दोष क्या है?–इस बात को स्पष्ट करने हेतु यह श्लोक आया है।

उत्थानिका (संस्कृत)–राग-द्वेष से रहित होकर आत्मा की भावना करो-ऐसा आपके द्वारा कहा गया; यदि उस राग के रहते हुए भावना करें, तो विरोध (आता है), वह क्या? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं–

खण्डान्वय–कषायैः=कषायों से, रञ्जितम्=रंगा हुआ, चेतः=मन या उपयोग, तत्त्वं=आत्मतत्त्व को, नैवावगाहते=ग्रहण नहीं कर (सकता) है। हि=क्योंकि, (जैसे कि) नीलीरक्ते=नीले रंग से रंगे हुए, अम्बरे=वस्त्र में, कौंकुमो रागः=कौंकुमी रंग, दुराधेयः=दुराधेय है (चढ़ना अत्यन्त कठिन है)।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–ग्रहण नहीं किया जा सकता है, मोक्ष के लिए कारणभूत निज शुद्धात्मस्वरूप की भावना का चिंतन, कैसे? जैसे कि चढ़ाया नहीं जा सकता है, क्या? लालिमा, किस तरह की लालिमा?–कुंकुम जैसी, कहाँ?

कपड़ों में, किस तरह कपड़ों में? नीले रंग में रंगे हुए कपड़ों में।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–नीले रंग में पूरी तरह रंगे हुए वस्त्र में कुंकुम का रंग दुःख-अत्यन्त कष्टपूर्वक जैसे-तैसे चढ़ाया जा सकता है, (उसी प्रकार) रागादि कषायों से कलुषित चित्त वस्तुरूप को जिस कारण से (ग्रहण करना) निश्चितरूप से अशक्य है। इसी कारण से रागादि दोषों को दूर करती हुई (जो भावना) हो, उसी (स्वरूप में स्थिरतारूप) स्वास्थ्य से वस्तुस्वरूप का ज्ञान होता है। (और) उस वस्तुस्वरूप के ज्ञान से शुद्धात्म भावना की प्राप्ति होती है–ऐसा भावार्थ है।

विशेषार्थ–पिछले पद्य में यह कहा था कि 'राग-द्वेष से रहित होकर आत्मतत्त्व की भावना करना चाहिए', तो यह प्रश्न उठा कि 'राग-द्वेष से रहित होकर' –यह शर्त क्यों लगायी? क्योंकि वास्तव में तो राग-द्वेष से रहित अरिहन्त एवं सिद्ध परमात्मा होते हैं, दसवें गुणस्थान के अन्त तक राग रहता है; तब एक अध्यात्मतत्त्व का पाठक व सामान्य साधक "राग-द्वेष से रहित होकर आत्मतत्त्व की भावना करे"– यह किस अभिप्राय से कहा? - इसी जिज्ञासा का समाधान इस पद्य में आया है।

चार कषायों में क्रोध एवं मान का द्वेष' में अन्तर्भाव है, तथा माया एवं लोभ का 'राग' में अन्तर्भाव है।[1] इस प्रकार राग-द्वेष अर्थात् चारों कषायें - यह पर्यायवाची समझना चाहिए।

पिछले पद्य में 'राग-द्वेष से रहित होकर' यह जो निर्देश दिया था, उसका कारण यह था कि कषायों से भरे हुए मन में या तीव्रकषाय के परिणामों से कभी भी आत्मतत्त्व समझ में नहीं आ सकता है। समझाने/लिखनेवाले आचार्य कितना ही सन्तुलित एवं स्पष्ट वर्णन करें; किन्तु कषाय से उद्विग्न श्रोता/पाठक को वह अकषायस्वभावी आत्मा का स्वरूप कभी भी समझ में नहीं आ सकेगा। कदाचित् वह कषाययुक्त चित्तवाला व्यक्ति शब्दों इस वर्णन की प्रशंसा/अनुमोदना भी करे, तो भी यह नहीं समझना चाहिए कि उसे आत्मतत्त्व कुछ भी समझ में आया है। अनुभवगम्य तत्त्व को जो शब्दजाल या विकल्पजाल में लेना चाहता है, उसके प्रति तो यह पंक्तियाँ सार्थक हैं –

"करि फुलेल को आचमन, "मीठो" कहत बताय।
रे गंधी ! मति अन्ध तूं, गंध दिखावत काह ?"

जैसे सूरदास का 'काली कमरिया' पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता, वैसे ही कषायों की वासना से भरा हुआ मन कभी आत्मतत्त्व को नहीं समझ सकता है।

चूँकि कषायें जीव का स्वरूप या गुण नहीं है, अपितु विकार हैं;[2] अतः उनसे भरे हुए चित्त में अकषायस्वभावी ज्ञायकतत्त्व का निर्णय भी असंभव है, अनुभव तो बहुत दूर की बात है। ये कषायें जीव को आत्महित किंवा मोक्षमार्ग से दूर रखतीं हैं; क्योंकि ये कषायें जन्म-मरणरूपी दुःखों की खेती हैं,[3] कर्मबन्ध की कारण हैं,[4] आत्मा के स्वाभाविकरूप की घातक हैं[5] एवं चारित्र के परिणामों को नष्ट करती हैं।[6]

आगमग्रन्थों में सम्यग्दर्शन की कारणभूत पाँच लब्धियों की चर्चा आती है। वे हैं—क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि।[7] इनमें तीसरी लब्धि – देशना लब्धि है, जिसके फलस्वरूप आत्महितकारी उपदेश का ग्रहण होता है। इसके पहिले की दोनों लब्धियाँ इसकी कारणभूत हैं। सुनने-समझने योग्य पात्रता अर्थात् संज्ञी पञ्चेन्द्रियपना की प्राप्ति होना 'क्षयोपशम लब्धि' है; जो कि सौभाग्य से चारों गतियों के संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों को सामान्यरूप से प्राप्त है। यह देशना के लिए साधारण पात्रता है। विशेष पात्रता है – विशुद्धि लब्धि। संसारी जीव के आत्मिक परिणामों में कषायों का उद्रेक (तीव्रता) न होने की वह विशिष्ट अवस्था, जिसके फलस्वरूप जीव आत्महितकारी उपदेश/तत्त्वज्ञान को ग्रहण कर सके—उसे विशुद्धि लब्धि कहा गया है।[8] इसके अभाव में कर्णकुहरों में धर्मोपदेश का श्रवण भले ही हो जाये, किन्तु आत्मिक परिणामों में उसका ग्रहण होना असंभव है। कदाचित् बुद्धिपूर्वक विचार भी वह कषायकलुषित चित्तवाला जीव करे, तो भी उसे वह धर्मोपदेश या तो अभिमान का हेतु बनता है, या फिर राग-द्वेष का। अतः यहाँ कषायोद्रेक का निषेध किया गया है, ताकि देशनालाभ जीव कर सके।

---

1. विशेष द्र०, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 39।
2. विशेष द्र०, धवला, 5/1,7, 44/223।
3. पंचसंग्रह (प्राकृत), 1/109।
4. सर्वार्थसिद्धि, 6/4।
5. राजवार्तिक, 2/6/2 एवं 6/4/2।
6. वही, 9/7/11।
7. मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय 7, पृ० 261 तथा धवला 6/1, 9-8. 3/204।
8. विशेष द्र०, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 257, 312।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)— नीनदु कारणदिंदौपधिगळं केडिसल्वेडि। आवुदं? निर्मोहनागि विनिर्भिन्नवप्प सकलपदार्थगळोळु निरपेक्षनागि स्वस्वरूप-ध्यानपरनागेन्दु पेळल्वेडि बन्दुदुत्तरश्लोकं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—*इत्येवं ज्ञात्वा सर्वबाह्यवस्तुषु व्यामोहं विसृज्य स्वस्वरूपभावनां कुर्यादिति शिक्षयन्नाह*—

ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै निर्मोहो भव सर्वतः।
उदासीनत्वमाश्रित्य तत्त्वचिन्तापरो भव।। 18।।

कन्नड़ टीका—(त्वम्) नीनु (भव) आगु (कीदृग्भूतः) एन्तप्पनागु? (निर्म्मोहः) मोहमिल्लदवनागु (कस्मात्) आवुदु कारणदिंदं (ततः) कषायदोळ कूडिद चित्तत्त्वमं पोर्दल्लदुकारणदिंदं (कस्य) आवुदक्कोसुनं निर्मोहनप्पं (दोषनिर्मुक्त्यै) रागद्वेषंगळ केडु कारणमागि (निर्मोहो) निर्मोहनागि (भव) आगु (कीदृशः) एन्तप्पवनागु? (तत्त्वचिन्तापरः) कारणपरमात्मस्वरूपभावनेयनगळनागु (किं विधाय) एनं माडि? (आश्रित्य) पोर्दि (किम्) एनं? (उदासीनत्वम्) परम-माध्यस्थ्यं (क्व) एल्लि? (सर्वतः) सव्यतिरिक्तमप्प समस्तवस्तुगळोळु।

संस्कृत टीका—*(ततः) तेन कारणेन (त्वम्) भवान् (दोषनिर्मुक्त्यै) राग-द्वेष-परिहरणार्थं (सर्वतः) समस्तबाह्यवस्तुषु (निर्मोहो भव) मोहरहितो भव। तथा मोहरहितः सन् (उदासीनत्वम्) शत्रुमित्रादिषु मध्यस्थभावं (आश्रित्य) प्राप्य (तत्त्वचिन्तापरो भव) आत्मस्वरूपभावनातत्परो भव।*

उत्थानिका (कन्नड़)—इस कारण से तुम उपाधियों (से अपने को) दूर करो। कैसे? निर्मोही बनकर अत्यन्त भिन्न होकर समस्त पदार्थों में से निरपेक्ष होकर अपने आत्मस्वरूप के ध्यान में तत्पर बनो।—इस बात का प्रतिपादन करने के लिए यह श्लोक प्रस्तुत है।

उत्थानिका (संस्कृत)—इस प्रकार जानकर समस्त बाह्य वस्तुओं में व्यामोह छोड़कर निजस्वरूप की भावना करनी चाहिए—इस प्रकार शिक्षा देते हुए कहते हैं।

खण्डान्वय—ततः=इस कारण से, त्वं=तुम, दोषनिर्मुक्त्यै=दोषों के निवारण के लिए, सर्वतः=सब ओर से, निर्मोहो=मोहरहित, भव=हो जाओ (तथा) उदासीनत्वं=उदासीनता का, आश्रित्य=आश्रय लेकर, तत्त्वचिन्तापरः=तत्त्वचिंतन में तत्पर, भव=हो जाओ।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–तुम हो जाओ. कैसे हो जाओ? मोहरहित हो जाओ। किसलिए (हो जाओ)? कषायों से भरा चित्त 'तत्त्व' को पाता नहीं है–इस कारण से, किसके लिए निर्मोही बन जायेगा?–राग-द्वेषरूपी दोषों से मुक्त होने के लिए मोहरहित बन जाओ। किस प्रकार के व्यक्ति बन जाओ?–इस कारण परमात्मस्वरूप की श्रेष्ठ भावना का चिन्तन करो। क्या करके? प्राप्त करके, किसको प्राप्त करके? परम-उत्कृष्ट माध्यस्थ भाव को (प्राप्त करके)। कहाँ? अपने से व्यतिरिक्त (अलावा) समस्त वस्तुओं में।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–इस कारण से आप राग-द्वेष को दूर करने के लिए समस्त बाह्य वस्तुओं में मोहरहित हो जाओ। तथा मोहरहित होते हुए शत्रु-मित्रादिकों में माध्यस्थ भाव प्राप्त करके आत्मस्वरूप की भावना में तत्पर हो जाओ।

विशेषार्थ–मोक्षमार्ग की शुरूआत के लिए सम्यग्दर्शन को प्राथमिक आवश्यकता माना गया है तथा सम्यग्दर्शन के लिए 'दर्शनमोह' को दूर करना अनिवार्य है। अतः जो-जो दर्शनमोह के पोषक साधन हैं,[1] उन सभी से बुद्धिपूर्वक बचना चाहिए; ताकि दर्शनमोहनीय का उपशम/क्षयोपशम/क्षय करके सम्यग्दर्शन प्रकट हो सके। यहाँ प्रयुक्त **'निर्मोहो भव सर्वतः'** वाक्यांश इसी तथ्य की सूचना देता है।

'उदासीनता' का अर्थ है 'पर से चित्त का हटना और आत्मा में उपयोग का रमना'। उदासीनता की अध्यात्मग्रन्थों में बड़ी महिमा गायी गयी है।[2] यहाँ तक कह दिया गया कि **"मोक्ष की सहेली है अकेली उदासीनता।"** आजकल उदासीनता को उत्साहहीनता का प्रतीक माना जाने लगा है, किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मा की व्यर्थ की अप्रयोजनभूत क्रियाओं से रूचि हटाने एवं आत्मतत्त्व में सम्पूर्ण उत्साह एवं पुरूषार्थ के साथ उपयोग को केन्द्रित करने का ही दूसरा नाम उदासीनता है।

इसके लिए भी करें क्या? पर से उपयोग बहुत हटाना चाहते हैं, किन्तु उपयोग आलम्बन के बिना भी तो नहीं रहता है;[3] तथा आत्मानुभूति के बिना आत्मा का आलम्बन भी नहीं हो सकता है। तो पर से हटाकर उपयोग को कहाँ ले जाया जाये? क्या किया जाये?–यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। इसका समाधान करने के लिए आचार्यदेव लिखते हैं - **"तत्त्वचिन्तापरो भव"** अर्थात् 'तत्त्व के चिन्तन-मनन और अभ्यास में तल्लीन हो जाओ।' पंडितप्रवर टोडरमल ने भी

लिखा है कि **तत्त्व-अभ्यास की महिमा से तत्त्व-अभ्याससहित जीव तिर्यंचादि गति में भी जाये, तो वहाँ भी तत्त्वाभ्यास के संस्कार के बल से वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है। तथा तत्त्व-अभ्यासरहित जीव स्वर्गादि गति में भी जाये, तो भी सम्यक्त्व प्राप्ति का ठिकाना नहीं है।**[4]

इस पद्य में निर्देशपरक **'भव'** (हो जाओ) पद का प्रयोग दो बार हुआ है। पहिले निर्मोह होने का निर्देश (निर्मोहो भव) दिया और फिर तत्त्वचिन्तन में संलग्न होने (तत्त्वचिन्तापरो भव) का निर्देश दिया है। निर्मोह होने का जो निर्देश है, वह निवृत्तिपरक आदेश है; तथा तत्त्वचिन्तन में संलग्न होने का आदेश प्रवृत्तिपरक है। एक से बचना/हटना है तथा दूसरे को अपना है। अत: दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। **'निर्मोहो भव'**—इस वाक्यांश में जो मोहरहित हो जाने की प्रेरणा है—वह सामान्य जीवों के लिए स्थूल मोह (स्त्री-पुत्र-धन-सम्पत्ति आदि के प्रति तीव्र आसक्ति एवं ममत्त्वरूप परिणाम) के निषेध का सूचक है। क्योंकि वस्तुत: तो मोहरहित होने के लिए ही तत्त्वाभ्यास किया जाता है। जब जीव सर्वत: मोहरहित हो ही जायेगा, तो फिर तत्त्वाभ्यास की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अत: 'उदासीनभावों के आश्रयपूर्वक निरन्तर किये गये तत्त्वचिन्तन के परिणामस्वरूप जीव सर्वत: मोहरहित हो सकता है' —ऐसा अभिप्राय समझकर उसी की प्रेरणा भट्ट अकलंकदेव के इस पद्य से प्राप्त करनी चाहिए।

---

1. द्र० सर्वार्थसिद्धि; 6/13।
2. बारस अणुवेक्खा, 78;
   एवं 'उदासीनरूप सब ध्यान के आलम्बन हैं' —महापुराण, 21/17।
3. मोक्षमार्ग प्रकाशक, 7/306
   तथा "**मुक्ति के साधक देसविरती मुनीश।**
   तिनकी अवस्था तो निरावलम्ब नाहीं है।।"
4. मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय 7, पृ० 260।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–एन्तप्प स्वरूपनिष्ठापरनप्पुदेंदोडे पेळल्वेडि बंदुदुत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)–*हेयोपादे ति ज्ञात्वा हेयं विसृज्योपादेयं स्वीकुर्यादिति वदन्नाह–*

हेयोपादेयतत्त्वस्य स्थितिं विज्ञाय हेयत:।
निरालम्बोऽन्यत: स्वस्मिन्नुपेये सावलम्बन:।।19।।

कन्नड़ टीका–(निरालम्ब:) प्रमेय-परिच्छेद-रहितनागु; (कथम्) एन्तु? (अन्यत:) तन्निं बेरप्प वस्तुगळनाश्रयिसि (कथंभूतात्) एन्तप्पह बेरप्प वस्तुवनाश्रयिसि? (हेयत:) परिहरिसल्पडुव (किं कृत्वा) एनं माडि? (विज्ञाय) निश्चयिसि (कम्) आवुदं? (स्थितिम्) दूरवं (कस्य) आवुदर? (हेयोपादेयतत्त्वस्य) हेयोपादेयस्वरूपद (सावलम्बन:) ग्राह्य-ग्राहक-स्वरूपमनुळ्ळवनागु (क्व) एल्लि? (स्वस्मिन्) सहज निजस्वरूपदल्लि, (कथंभूते) एन्तप्प निजस्वरूपदल्लि? (उपेये) स्वीक्रियमाणमप्पुदरल्लि।

संस्कृत टीका–*(हेयोपादेयतत्त्वस्य) संभवपरावर्तनरूपसंसारश्च, तत्कारणभूतमिथ्यात्वादिपरिणामाश्चानंतसुखस्वरूपमोक्षश्च तत्कारणभूत रत्नत्रयाणि च एतेषां स्वरूपस्य (स्थितिम्) अवस्थान्तरं (विज्ञाय) ज्ञात्वा (अन्यत:) स्वस्माद् भिन्नत: (हेयत:) त्याज्यत:, संसार-तन्निबंधनशरीरादि बाह्यवस्तुषु (निरालम्ब:) निराश्रय: सन् (उपेये) उपेयस्वरूपे (स्वस्मिन्) स्वस्वरूपे (सावलम्बन:) सहितालम्बनो भव। परचिन्तां त्यक्त्वा निजात्मचिन्तामेव कुर्यादित्यभिप्राय:।*

उत्थानिका (कन्नड़)–किस प्रकार की स्वरूपनिष्ठा होनी चाहिए?–इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप आया है प्रस्तुत श्लोक।

उत्थानिका (संस्कृत)–हेय और उपादेय तत्त्वों को जानकर, हेय तत्त्व को छोड़कर, उपादेय को स्वीकार करना चाहिए–ऐसा कहते हुए बताते हैं।

खण्डान्वय–हेयोपादेयतत्त्वस्य=हेय और उपादेय तत्त्व की, स्थितिं=स्थिति को-स्वरूप को, विज्ञाय=जानकर, अन्यत: हेयत:=अपने से भिन्न हेयतत्त्वों से, निरालम्ब:=आलम्बन रहित होकर (उनका आश्रय छोड़कर), उपेये=उपादेयभूत अथवा ग्रहण करने योग्य, स्वस्मिन्=अपने स्वरूप में, सावलम्बन – आलम्बन सहित हो जाओ, (उसका आश्रय ग्रहण करो)।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–ज्ञेयभूत अन्य वस्तुओं के ज्ञान से भी

रहित हो जाओ। कैसे? अपने से भिन्न समस्त वस्तुओं के आश्रय से, किस तरह की अन्य वस्तुओं के आश्रय से?–त्यागने योग्य वस्तुओं के, क्या करना चाहिये? अच्छी तरह से समझकर, किसको?–उसके अस्तित्व को, किसके अस्तित्व को? हेय और उपादेयस्वरूप (तत्त्वों) के, ग्राह्य-ग्राहक स्वरूप को समझ लो (अर्थात् वे वस्तुयें तुम्हारे ज्ञान की विषय है, और तुम उनके ज्ञाता हो, कर्ता नहीं–ऐसा समझ लो), कहाँ? सहज निज आत्मस्वरूप में, कैसे अपने आत्मस्वरूप में?–स्वीकार करने योग्य-ऐसे (निजात्मस्वरूप) में।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–होने वाले पंचपरावर्तनरूप संसार और उसके कारणभूत मिथ्यात्वादि परिणाम तथा अनंतसुखस्वरूप मोक्ष और उसके कारणभूत रत्नत्रय–इन सबके स्वरूप की अवस्थाविशेष को जानकर अपने से भिन्नरूप त्यागने योग्य ऐसे संसार, उसके कारणभूत शरीरादि बाह्य वस्तुओं में आश्रयरहित होकर उपेयस्वरूप निजात्मस्वरूप में आलम्बन सहित हो जाओ। परपदार्थों की चिन्ता को छोड़कर निजात्मतत्त्व की ही चिन्ता करनी चाहिए–ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ–तत्त्व-चिन्तन की प्रक्रिया में तत्त्वों का स्वरूप जानने के साथ-साथ उनकी उपयोगिता जानना भी जरूरी है और तदनुसार बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति भी अपेक्षित हो जाती है। जीवादि तत्त्वों के महत्त्व की दृष्टि से तीन विभाग किये गये हैं - हेयरूप, ज्ञेयरूप और उपादेयरूप। अजीव तत्त्व (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) ज्ञेयरूप तत्त्व हैं, इन्हें मात्र जान लो कि इनका स्वरूप क्या है; इनसे न आत्मा को कोई हानि है और न ही लाभ, अत: अन्य किसी प्रतिक्रिया की भी अपेक्षा नहीं है। आस्रव-बन्ध तत्त्व मोक्षमार्ग में बाधक एवं संसार बढ़ाने वाले हैं, अत: उन्हें हेयरूप तत्त्व कहा गया है। तथा उपादेयरूप तत्त्वों में दो विभाग हैं - (1) आश्रय करने के लिए उपादेय तत्त्व और (2) प्रकट करने के लिए उपादेय तत्त्व। जीवतत्त्व आश्रय करने की अपेक्षा उपादेय है तथा संवर निर्जरा एवं मोक्षतत्त्व प्रकट करने के लिए उपादेय है।[1] – इस प्रकार से इन तत्त्वों का स्वरूप भली-भाँति जानकर अन्य सभी (हेयतत्त्वों, ज्ञेयतत्त्वों एवं प्रकट करने के लिए उपादेय तत्त्वों) के आलम्बन की भावना से रहित होकर आलम्बन करने योग्य परम उपादेय निज शुद्ध जीवतत्त्व का आलम्बन लेने के लिए बुद्धिपूर्वक प्रयत्नशील/सावधान होने का सन्देश इस पद्य में दिया गया है।

यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ ध्यान की प्रक्रिया की सांकेतिक चर्चा

की गयी है। ध्यान में बाधक वस्तुओं से निरावलम्बन-युक्त होने का निर्देश देकर अपने शुद्धात्मस्वरूप के ध्यान के लिए सहायक वस्तुओं के प्रति आलम्बन-सहित होने का निर्देश है। धवलाकार ने क्षपकश्रेणी वाले ऐसे ध्यातापुरूष को 'सम्पूर्ण लोक ही ध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ' बताया है–

"आलंबणेहिं भरियो लोगो ज्झाइदुमणस्स खवगस्स।
जं-जं मणसा पेच्छइ तं-तं आलंबणं होइ।।"[2]

अर्थ– यह लोक ध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ है। ध्यान में मन लगाने वाला क्षपक मन से जिस-जिस वस्तु ~~को~~ की देखता है, वह-वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होती है। अन्यत्र[3] भी इस तथ्य पुष्टि प्राप्त होती है।

सामान्यतः संसारी जीवों की दृष्टि से इस प्रकरण की व्याख्या संस्कृत टीकाकार ने 'परचिन्ता को छोड़कर निजात्मा की चिन्ता/चिन्तन करना'–इस रूप में की है। क्योंकि उपयोग का एकसमय में एक ही विषय होगा, या तो 'स्व' या फिर 'पर'। अतः यदि आत्मचिन्तन/ध्यान करना है, तो परचिन्ता छोड़नी ही होगी।

कन्नड़ टीकाकार ने 'सावलम्बनः'[1] पद का 'ग्राह्य-ग्राहक स्वरूप को समझना'–ऐसा अर्थ किया है। इसमें यह संकेत है कि परपदार्थ ज्ञान के विषय बनें भी तो भी तुम मात्र उसके 'ग्राहक' अर्थात् 'ज्ञाता' ही रहना; कर्त्ता या भोक्ता बनने की चेष्टा मत करना। अन्यथा वे तुम्हारे लिए ध्यान में बाधक तत्त्व हो जायेंगे।

किस अवस्था में कौन उपादेय है? – इसका विशद वर्णन द्रव्यसंग्रह टीका[4] में उपलब्ध है। जबकि निष्कर्षरूप से शुद्धात्मद्रव्य ही ध्यान करने योग्य है,[5] वही सब तत्त्वों में परम तत्त्व है।[6]

---

1. विशेष द्र०, द्रव्यसंग्रह, चूलिका, 28/82; पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 128-130।
2. धवला, 13/5,4,26/32।
3. विशेष द्र० महापुराण, 21/17-21; द्रव्यसंग्रह, 55; तत्त्वानुशासन, 138।
4. द्रव्यसंग्रह टीका, अधिकार 2 की चूलिका।
5. पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति; गा० 15, पृ० 34।
6. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० 204।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—निजशुद्धात्मस्वरूपमं भावियेनेंबी कालदोळु बाह्यविषयंगळोळु तृष्णारहितनागु। तृष्णेयुळ्ळोडे मोक्षप्राप्तियागदु एम्बुदं पेळल्वेदि बन्दुदुत्तरश्लोकं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—*तथा सति निजात्मविषयोद्भूत-तीव्रतृष्णां तत्कारणानां त्यागं कुर्यादिति ब्रुवन्नाह*—

तदाप्यतितृष्णावान्[1] हन्त ! मा भूस्त्वात्मनि।
यावत्तृष्णाप्रभूतिस्ते, तावन्मोक्षं न यास्यसि॥ 20॥

कन्नड़ टीका—(हन्त) एले आत्मा ! (मा भूः) आगदिरु (कः) आवं? (तवम्) नीनु (कथंभूतः) एन्तप्पनागदिरु (अतीव तृष्णावान्) आदमानुं बाह्यविषयाकांक्षेयनुळ्ळवनागदिरु (कथम्) एन्तादोडं? (तदापि) स्वरूपालम्बन-प्रारम्भकालदोळं (क्व) एल्लि तृष्णे इल्लदिरबेळ्कुं? (आत्मनि) निन्नात्मनल्लि, (कुतः) आवुदु कारणमागि? (न यास्यसि) येय्दुवुवल्ल (एनं मोक्षम्) एल्ल कर्मंगळ केडुं (कथम्) एन्तु? (तावत्) अन्नेवरेगं (यावत्किम्) एन्नेवरेगेवेनु? (यावत् तृष्णाप्रभूतिः) एन्नेवरेगं कांक्षेय पेर्च्चुगे (कस्य) आवंगे? (ते) निनगे।

संस्कृत टीका—*(तथापि) तद्वदपि (हन्त) अहो जीव! (त्वम्) भवान् (आत्मनि) स्वस्वरूपे (अतीव तृष्णावान्) अतीव कांक्षावान् (मा भूः) मा भव; (न यास्यसि) न गम्यसि। निजात्मविषयेऽपीति तीव्रकांक्षा चेत्, लोभकषायो न नश्यति। तस्य विनाशं विना स्वस्वरूपावाप्तिर्न स्यात्। तस्मात् तीव्रतृष्णा मोक्षस्य प्रतिबन्धकत्वात् त्याज्येति भावः।*

उत्थानिका (कन्नड)—निजशुद्धात्मस्वरूप की भावना के काल में बाह्य विषयों में तृष्णारहित हो जाओ, क्योंकि तृष्णा के रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति कभी भी संभव नहीं है—ऐसा बताने के लिए प्रस्तुत श्लोक आया है।

उत्थानिका (संस्कृत)—वैसा होने पर (परपदार्थों की चिन्ता छोड़कर आत्मचिन्ता करते समय) निजात्मा के विषय में उत्पन्न तीव्र तृष्णा और उसके कारणों का त्याग करना चाहिए—ऐसा बताते हुए कहते हैं।

खण्डान्वयः—हन्त ! =हे आत्मन्! तथापि=ऐसा (आत्मचिन्तन) होने पर भी, त्वम्=तुम, आत्मनि=अपने विषय में (भी), अतितृष्णावान्=अत्यन्त तृष्णा से

---

[1] 'तथाप्यतीव......', इति सं० प्रति पाठः।

युक्त, मा भूः=मत होओ, (क्योंकि) यावत्=जब तक, ते=तुम्हारे (अन्तस् में), तृष्णाप्रभूतिः=तृष्णा की भावना उत्पन्न होती है, तावत्=तब तक, (तुम), मोक्षं=मोक्ष को, न यास्यसि=नहीं जा सकोगे।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–हे आत्मन्! मत होओ, कौन (मत होओ)? तुम किस तरह के न बनो? इन बाहर विषयों में अति आकांक्षा से युक्त मत बनो, किस तरह से? स्वरूप के आलम्बन के प्रारंभिक क्षण से ही, कहाँ पर तृष्णा नहीं रहनी चाहिए? तुम्हारे आत्मा में, किस कारण से?–नहीं पा सकोगे समस्त कर्मों से मुक्ति को (–इस कारण से)। कैसे (नहीं पा सकोगे)? तब तक, जब तक क्या? जब तक कि आकांक्षा की अधिकता है, किसको?–तुमको।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत)–उस तरह (होने पर) अरे जीव! आप अपने स्वरूप में अतीव आकांक्षा से युक्त मत होओ। क्यों?–ऐसा (पूछने पर कहते हैं) कि जब तक तुम्हारे (मन में) आकांक्षा की प्रादुर्भूति (होती रहेगी) तब तक (तुम) मोक्ष में नहीं जा सकोगे। अपनी आत्मा के विषय में भी तीव्र आकांक्षा यदि (रहती है तो तब तक) लोभ कषाय नष्ट नहीं हो सकती है। और लोभकषाय के विनाश के बिना अपने स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए तीव्रतृष्णा की भावना मोक्ष की प्रतिबन्धक (बाधक) होने से त्यागने योग्य है–ऐसा भाव है।

विशेषार्थ–यद्यपि ग्रन्थकर्त्ता ने विगत दो पद्यों में आत्मतत्त्व की भावना एवं उसका आश्रय लेने की प्रबल प्रेरणा दी है, किन्तु यह प्रेरणा पुरुषार्थी बनने की दृष्टि से दी गयी थी; उतावला बनने के लिए नहीं। यदि कोई व्यक्ति अधिक उतावला होकर बार-बार यह पूछे कि "इतना सब कुछ तो कर लिया, किन्तु आत्मानुभूति नहीं हुई; कब तक हो जायेगी?" - तो ऐसी तृष्णा से आत्मानुभूति होने वाली नहीं है। क्योंकि यह तृष्णा तो राग की ही तीव्रपरिणति है तथा आत्मा वीतरागतत्त्व है; अतः उसका ग्रहण/अनुभव वीतराग परिणामों में ही संभव है, तीव्रराग से कदापि संभव नहीं है। फिर भी वीतराग तत्त्व की प्राप्ति जो तीव्ररागरूप तृष्णा के परिणामों से करना चाहते हैं, उनके प्रति आचार्यदेव ने खेदसूचक '**हन्त**' पद का प्रयोग किया है।

साथ ही उन्होंने स्पष्ट सूचना दी है कि **जब तक तृष्णाभाव रहेगा, तब तक जीव मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता है**। आखिर 'उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पवित्र साधनों का उपयोग अनिवार्यरूप से करना ही होगा'; अन्यथा इष्टसिद्धि कदापि नहीं हो सकती है।

वस्तुत: यहाँ स्वरूप का आलम्बन लेने की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के परिणामों की चर्चा है – ऐसा संकेत स्वयं कन्नड़ टीकाकार महासेन पंडितदेव ने दिया है।

'तृष्णा' शब्द का प्रयोग यहाँ गंभीर अभिप्राय का सूचक है। "यह पदार्थ मुझे पुन: प्राप्त हो ऐसी भावना से किया गया प्रयत्नविशेष तृष्णा से ही होता है।"[1] यह तृष्णारूपी पिशाचिनी ऐसी भयंकर है कि जिसकी शान्ति के लिए तीन लोकों की सम्पत्ति भी कम पड़ती है।[2] जिस किसी साधक के तृष्णारूपी पिशाची नष्ट हुई है, उसी का शास्त्राध्ययन, चारित्रपालन, विवेक, तत्त्वनिर्णय एवं ममत्त्वत्याग सार्थक है।[3] जब तक मनरूपी जड़ में ममत्वरूपी जल से निर्मित गीलापन रहता है, तब तक महातपस्वियों के भी तृष्णारूपी बेल हरी-भरी रहती है।[4] अत: ज्ञानीजन बुद्धिपूर्वक लोभ को नियन्त्रित करके, सन्तोषरूपी रसायन द्वारा सन्तुष्ट होते हुए अनित्य-अशरण आदि भावनाओं के चिन्तनपूर्वक दुष्टा तृष्णा का विनाश करते हैं।[5] इन अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन/अनुप्रेक्षण से समतारूपी सुख उत्पन्न होता है एवं तृष्णाजन्य आकुलता का विनाश होकर सुखानुभूति ऐसे सघनतर होती जाती है; जैसे कि पवन का सहयोग पाकर अग्नि की ज्वाला प्रचंडतर होती जाती है। कविवर दौलतराम जी ने लिखा है–

"इन चिन्तत समसुख जागै, जिम ज्वलन पवन के लागै।"

अत: उन्होंने इन वैराग्योत्पादक भावनाओं के चिंतन की प्रेरणा आत्मीयतापूर्वक दी है–

"वैराग्य उपावनमाई, चिन्तौ अनुप्रेक्षा भाई।"[6]

---

1. न्यायदर्शनसूत्र टीका, 4/1/3।
2. ज्ञानार्णव, 16/20।
3. वही, 17/11।
4. आत्मानुशासन, 252।
5. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 339।
6. छहढाला, पाँचवीं ढाल।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–मोक्षार्थियप्पातं मोक्षदोळादोडं कांक्षेयं माडदिर्के-एंदु पेळल्वेडि बन्दुदुत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)– *तेन मोक्षविषयेऽपि तीव्राभिलाषं मा कुर्यादिति ब्रुवन्नाह–*

मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति।
इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत्।। 21।।

कन्नड़ टीका–(न योजयेत्) माडिदर्के (कः) आवं (हितान्वेषी) सुखमं बयसुवातं (कां) एनन्नु माडदिर्के? (कांक्षाम्) कांक्षेयं (क्व) एल्लि? (क्वापि) आवेडेयोळादोडं (कुतः) आवुदु कारणमागि? (उक्तत्वात्) पूर्वाचार्यर पेळ्केयुंटप्पुदरिं (कथम्) एन्तु? (इति) इन्तु (इति कथम्) इन्तेम्बुदेन्तु? 'मोक्षेऽपि यस्य नाकांक्षा, स मोक्षमधिगच्छति'–एन्दिन्तु। (अधिगच्छति) पेच्चुवं (कं) आवुदं? (मोक्षम्) मोक्षमं (कः) आवं? (सः) आनं (यस्य किम्) आवदानुमोर्वंगेनु? (न कांक्षा) कांक्षे इल्ल (क्व) एल्लि? (मोक्षेऽपि) 'संसारकारणाभावेषु, स स्वात्मलाभो मोक्षः'–एंबुदरि हेळल्पट्टवप्प मोक्षदोळादोडं।

संस्कृत टीका–*यस्य मोक्षेऽपि (आकांक्षा) तीव्रतृष्णा (न) न च (स) स एव मोक्षम् (अधिगच्छति) प्राप्नोति (इत्युक्तत्वात्) इति प्रतिपादितत्वात् (हितान्वेषी) मोक्षार्थी (क्वापि) कुत्रापि वस्तुनि (कांक्षाम्) अभिलाषं (न योजयेत्) न कुर्यात्। सकषायपरिणामः यावत्, तावत्संसारस्तदभाव एव मोक्ष–इत्यभिप्रायः।*

उत्थानिका (कन्नड़)–मोक्षार्थी जीव मोक्ष की प्राप्ति में भी कांक्षा न करें–इस बात को स्पष्ट करने के लिए यह श्लोक प्रस्तुत है।

उत्थानिका (संस्कृत)–इसलिए मोक्ष के विषय में भी तीव्र अभिलाषा मत करो–ऐसा बताते हैं।

खण्डान्वय–यस्य=जिस व्यक्ति की, मोक्षेऽपि=मोक्षविषयक भी, आकांक्षा=इच्छा, न=नहीं है, स=वही, मोक्षम्=मोक्ष को, अधिगच्छति=समझता या प्राप्त करता है–इति=ऐसा, उक्तत्वात्=कहा गया होने से, हितान्वेषी=हित की खोज में लगे हुए व्यक्ति को, क्वापि=किसी भी विषय में, कांक्षां=आकांक्षा, न योजयेत्=नहीं करनी चाहिए।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–नहीं करें, कौन?–सुख को चाहनेवाला व्यक्ति, क्या-क्या नहीं करे? कांक्षा या अभिलाषा को, कहाँ?–किसी भी स्थान में,

किस कारण से? पूर्वाचार्यों के द्वारा कथित अभिप्राय के अनुसार, कैसा (अभिप्राय)? इस प्रकार का, ऐसा कैसा?–'मोक्ष में भी जिसकी अभिलाषा नहीं है, वह मोक्ष प्राप्त करता है'–इस प्रकार (का अभिप्राय)। प्राप्त करेगा, किसे? मोक्ष को, कौन (प्राप्त करेगा)? वह, जिस किसी व्यक्ति को आकांक्षा नहीं है, कहाँ (अर्थात् किस विषय में आकांक्षा नहीं है)?–'संसार के कारणों का अभाव-ऐसी वह अपनी आत्मा की प्राप्ति ही मोक्ष है'–इस प्रकार की व्याख्या से स्पष्ट होने वाली मुक्ति में भी।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–जिसकी मोक्ष के विषय में भी तीव्र तृष्णा नहीं है, वही मोक्ष को प्राप्त करता है–ऐसा प्रतिपादित होने से मोक्षार्थी व्यक्ति को किसी भी वस्तु में अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। जब तक सकषाय परिणाम है, तब तक संसार है, और इस संसार का अभाव ही मोक्ष है–ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ–जैसे सासांरिक पदार्थों एवं भोगों की इच्छा/तृष्णा आत्महित में बाधक है, वैसे ही आत्मा एवं मोक्षसम्बन्धी राग भी स्थिर आत्मानुभूति एवं मोक्षप्राप्ति में बाधकतत्त्व है[1]।

यह मोक्षाभिलाषारूप सूक्ष्म राग दसवें गुणस्थान के अन्त तक रहता है। नाटकसमयसार में कविवर पं. बनारसीदास लिखते हैं –

"कहौं दसम गुणथान दुसाखा, जहँ सूक्षम सिव की अभिलाषा।
सूक्षम लोभ दसा जहँ लहिए; सूक्षम साम्पराय सो कहिए।।"[2]

किन्तु यही राग दसवें और बारहवें गुणस्थान की विभाजक रेखा है। यह राग है, तो दसवाँ गुणस्थान और इस राग के छूटते ही बारहवाँ गुणस्थान पूर्ण वीतरागता का प्रगट हो जाता है। अत: कितना भी प्रशस्त कहा जाये; किंतु मोक्ष की अभिलाषा का राग भी मोक्ष की प्राप्ति में बाधक ही है, साधक नहीं।

जब तक कषायभाव है, तब तक धर्मध्यान है और कषाय छूटने के बाद ही शुक्लध्यान होता है;[3] जो मोक्ष का साक्षात्कारण कहा गया है। जो आठवें, नौवें एवं दसवें गुणस्थान में शुक्लध्यान कहा गया है, उसमें भी अव्यक्तराग की स्थिति मानी गयी है;[4] अत: उसे भी शुक्लध्यान की उत्कृष्ट अवस्था नहीं माना गया है। इसीलिए दसवें गुणस्थान में राग के कारण सूक्ष्मपरिग्रहसंज्ञा[5] भी कही गयी है।

आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव भावशुद्धि होते हुए भी परमाणुमात्र भी (निज शुद्धात्मा से) अन्य किसी की भी स्वीकृतिमात्र को 'लोभ' संज्ञा देते हैं।[6] अतएव यहाँ पर यह कहना कि "किसी भी पदार्थ में किसी तरह की आकांक्षा नहीं करनी

चाहिए"; कोई सामान्यकथन नहीं है। इसका अर्थ विस्तार बहुत व्यापक एवं गम्भीर है।

मोक्ष-विषयक आकांक्षा/चिन्ता के त्याग के लिए प्रायः सभी अध्यात्मवादियों ने उपदेश दिया है। आचार्य योगीन्द्रदेव लिखते हैं–'हे योगी ! अन्य पदार्थों की चिन्ता की बात तो दूर रही, मोक्ष की भी चिन्ता मत करो; क्योंकि चिन्ता करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।''[7] आचार्य पद्मनंदि लिखते हैं –''चूंकि मोक्ष की इच्छा भी मोह के ही कारण से होती है और मोह मोक्षप्राप्ति में बाधकतत्त्व है। अतः शान्तभावी मुमुक्षुजन किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करते हैं।''[8]

---

1. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिः, 1/55।
2. नाटक समयसार, गुणस्थान अधिकार, पद्य 99।
3. धवला, पुस्तक 13, वर्गणा 52।
4. भावपाहुड, गाथा 121 की पं० जयचन्द छाबड़ाकृत वचनिका।
5. छक्खंडागम, सं० 2/2/442।
6. नियमसार, गाथा 112 की टीका।
7. परमात्मप्रकाश, 2/188।
8. पद्मनंदि पंचविंशतिः।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—'स्व-परवस्तुगळं स्व-परस्वरूपदिंदरिदु परम-मध्यस्थभावनेयं पेर्चिसे अतीन्द्रिय सुखमनेयिदुवें'—एम्बुदं पेळल्वेडि बन्दुदुत्तरश्लोकं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—*दुर्भावं विसृज्य स्वपरवस्तु यथावत्स्थितिं तद्वत् निर्णेतव्यम्। मध्यस्थावस्था लभ्यमानायां सत्यां तत्फलं दर्शयन्नाह—*

स्वं परञ्चेति वस्त्वित्थं वस्तुरूपेण चिन्तय।
उपेक्षाभावनोत्कर्ष-पर्यंते शिवमाप्नुहि ।। 22 ।।

कन्नड़ टीका—(चिन्तय) अरि (केन रूपेण) आव स्वरूपदिंदं? (वस्तुरूपेण) वस्तुरूपदिंदं, (किम्) एनं? (वस्तु) वस्तुवं, (कथम्) एन्तु? (इत्यम्) इन्तु (इत्थं कथम्) इंतेम्बुदेन्तु? (स्वं-पर चेति) तानुं पेरतेम्ब स्वरूपदिंदं (आप्नुहि) पेय्दुवे। (कम्) एनं? (शिवम्) अतीन्द्रियसुखमं इन्द्रियातीतसुखक्के, (क्व) एल्लि? (उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते) परममाध्यस्थ भावनेय पेर्चुगे।

संस्कृत टीका—*(स्वम्) त्वं (परञ्च) अन्यञ्च-इति द्विप्रकारं (वस्तु) वस्तुस्वरूपं (वस्तुरूपेण) तत्तद्वस्तुस्वरूपेणैव (इत्थम्) अनेनोक्तप्रकारेण (चिन्तय) भावय। (उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते) समस्तवस्तुषु परमौदासीनभावनोत्कर्षपर्यायपर्यन्ते (शिवं) मोक्षं (आप्नुहि) प्राप्नुहि। यथावस्थितवस्तु तत्तत्स्वरूपेणैव निश्चित्य परमौदासीनभावनां कृते स्वरूपप्राप्तिः स्यादिति भावः।*

उत्थानिका (कन्नड़)—'स्वकीय एवं परकीय वस्तुओं को (स्व को) स्वस्वरूप और (पर को) परस्वरूप-ऐसा जानकार स्ववस्तु में परमोत्कृष्ट भावना और परवस्तुओं में माध्यस्थ भावना को बढ़ाने से अतीन्द्रिय सुख (मोक्ष सुख) को प्राप्त कर सकोगे'—इस बात के स्पष्टीकरण के लिए यह श्लोक प्रस्तुत है।

उत्थानिका (संस्कृत)—दुर्भावों को छोड़कर अपनी और परायी वस्तु की जिसकी जैसी स्थिति है—उसी तरह निर्णय करना चाहिए। मध्यस्थ अवस्था प्राप्तव्य होने पर उसका फल दिखाते हुए कहते हैं।

खण्डान्वय—स्वं परञ्चेति=अपनी और परायी—ऐसी (समस्त) वस्तु=वस्तुओं को, वस्तुरूपेण=(जो वस्तु जैसी है, उसी) वस्तुरूप से, चिन्तय=विचार करो (और फिर) इत्थम्=इस प्रकार (विचार होने पर), उपेक्षाभावनोत्कर्षपर्यन्ते=उपेक्षा रूप माध्यस्थ भावना का चरम उत्कर्ष प्राप्त होने पर, शिवं=मोक्ष को, प्राप्नुहि=प्राप्त करो (प्राप्त कर सकोगे-ऐसा भाव है)।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)—समझो, किस रूप से? वस्तुरूप से,

किसे?—वस्तु को, कैसे?—इस प्रकार, ऐसे कैसे?—मैं और मुझसे भिन्न परवस्तु स्वरूप से पाओगे। किसको?—अतीन्द्रिय सुख को, कहाँ?—परममाध्यस्थ भावना की चरमोत्कृष्ट स्थिति में।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)—तुम और अन्य-इस तरह से दो प्रकार के वस्तुस्वरूप को उस-उस वस्तु के स्वरूप के अनुसार ही इस पूर्वोक्त प्रकार से भावना करो। सम्पूर्ण वस्तुओं में परम उदासीनता भावना की उत्कृष्टतमपर्याय पर्यन्त (होने पर) मोक्ष को प्राप्त करोगे। यथावस्थित वस्तु उसी-उसी स्वरूप से ही निश्चित करके परम उदासीन भावना करने पर स्वरूप की प्राप्ति होती है—ऐसा भाव है।

विशेषार्थ:— मोक्ष के विषय में भी तृष्णा न हो, तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए तत्पर आत्मार्थी जीव तत्त्व-अभ्यास में लगा रहे — ऐसा विगत कुछ पद्यों का निष्कर्ष है। यहाँ प्रश्न होता है कि 'वह कैसे तत्त्वाभ्यास करे कि तृष्णा भी न हो और तत्त्वनिर्णय भी हो सके?' —इसका समाधान इस पद्य में दिया गया है।

आत्मा का और परपदार्थों का ज्ञान एवं चिन्तन उस-उस वस्तु का जैसा स्वरूप है, तदनुसार करना चाहिए; न कि अपने पूर्वाग्रहों, विपरीताभिनिवेशों एवं राग-द्वेष की भावनाओं से प्रेरित हो कर 'अपना-पराया' या 'भला-बुरा' के रूप में। इसको 'परममाध्यस्थ भावना' या 'उपेक्षा भावना' संज्ञा ग्रन्थकार ने दी है। इस उपेक्षा-भावना का चरम उत्कर्ष होने पर ही जीव मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। जब तक वह उत्कर्ष प्राप्त नहीं हो पाता है, तब तक साधक को राग-द्वेष-मोह के मिथ्या-संस्कारों से बचकर वस्तुगत रूप से अपनी दृष्टि एवं चिन्तनशैली का निर्माण करना होगा। तभी परमपुरूषार्थ मोक्ष की सिद्धि संभव हो सकेगी।

विगत कुछ पद्यों एवं उनकी टीकाओं में स्पष्ट है कि माध्यस्थ भावना, उदासीनता एवं उपेक्षा भावना—इन तीनों को प्राय: पर्यायवाचीरूप में कहा गया है। वस्तुत: ये 'पर' के प्रति उपेक्षा एवं आत्मा के प्रति 'भावना'—ऐसी विशिष्ट त्यागोपादान रूप हैं। मुनि रामसिंह ने लिखा है कि आत्मा की भावना करने से पाप क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं।[1]

---

[1] दोहापाहुड, 75।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–कडेयोळु आवुदोन्दुपेक्षाभावनेय पेर्चुगेयिं सुखप्राप्तियक्कुमा भावनेयं माळ्पोडदुवुं स्वात्मनिष्टेयप्पुदरिं पडेयलप्पुदरिंदल्लिये यत्नमं माडलवेळ्कुमेम्बुदं पेळल्वेडि बन्दुदुत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)–*तन्मध्यस्थ-भावश्च स्वस्मिन्नेव संभवनात् अत्यन्तसुलभत्वं सम्यग्ज्ञात्वा तद्भावनां कुर्वीति शिक्षां प्रचक्षते–*

साऽपि च स्वात्मनिष्ठत्वात् सुलभा यदि चिन्त्यते।
आत्माधीने फले तात ! यत्नं किन्न करिष्यसि।। 23।।

कन्नड़ टीका–(सुलभा) पडेयल् बर्पुदु (यदि किम्) एनं माळ्पोडे (यदि चिन्त्यते) येल्लियानुं भाविसुवेनेम्बे यक्कुमप्पोडे (का) आवुदु (सापि च) आ परमोपेक्षाभावनेयं (कुतः) आवुदु कारणमागि (स्वात्मनिष्ठत्वात्) स्वरूपदल्लिये नेलसिर्दुदप्पुदु कारणमागि (तात !) एले आर्य ! (किन्न करिष्यसि) एके माडे (कम्) एनं (यत्नम्) प्रयत्नमं (क्व) एल्लि (फले) भावनारूपमप्प फलदल्लि (कथंभूते) एन्तप्पुदरिं? (आत्माधीने) स्वात्माधीनमप्पुदरल्लि।

संस्कृत टीका–*(साऽपि च) सापि चोपेक्षाभावना (स्वात्मनिष्ठत्वात्) स्वस्मिन्नेवावस्थितत्वात् (सुलभा) लभ्यमिति (चिन्त्यते यदि) चिन्तितं चेत् (आत्माधीने फले) उपेक्षाभावनारूपफले (तात) हे तात ! (यत्नम्) उद्योगं (किन्न करिष्यसि) किमर्थं न करिष्यसि? निरपेक्षं लभ्यं चेत् अस्यां शुद्धभावनायां उद्योगरहितजडबुद्धिरेव संसारी स्यात्। तस्यां तत्परनिशितमतिरेव मुक्तः स्यादिति भावः।*

उत्थानिका (कन्नड़)–अन्त में, जिस किसी माध्यस्थ भावना की चरमोत्कृष्ट स्थिति में सुख की प्राप्ति होगी, उस उत्कृष्ट भावना का चिन्तन करने से वही स्वात्मनिष्ठ भावना होगी और उसी को प्राप्त करना है। इसलिए उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए-यही बताने के लिए यह श्लोक प्रस्तुत है।

उत्थानिका (संस्कृत)–और वह मध्यस्थ भाव अपने में ही संभव होने से (उसकी) अत्यन्त सुलभता भली-भाँति जानकर उसकी भावना करो–ऐसी शिक्षा कहते हैं।

खण्डान्वय–साऽपि=वह (मध्यस्थ भावना) भी, स्वात्मनिष्ठत्वात्=अपनी आत्मा में विद्यमान होने से, यदि=अगर, सुलभा=सुलभ है-ऐसी, चिन्त्यते=विचारी जाती है, (तो), तात ! =हे भाई ! आत्माधीने फले=स्वाधीन फल में,

यत्नं=पुरुषार्थ-प्रयत्न, किन्न करिष्यसि=क्यों नहीं करते हो?

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–सहजता से प्राप्त की जा सकती है, क्या करने से?–यदि इस भावना का चिन्तन करोगे, तो। तो क्या? उस परम उपेक्षारूप भावना को, किस कारण से? अपने आत्मा में ही तल्लीन रहने के कारण से। हे सज्जन पुरुष! क्यों नहीं करोगे?–किसको? प्रयत्न को, कहाँ?–उत्कृष्ट भावनारूप फल में, किस प्रकार के फल में?–अपनी आत्मा के अधीन (में ही प्राप्त होने वाले) फल में।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–और वह उपेक्षा भावना भी अपने में ही अवस्थित होने से 'प्राप्त की जा सकती है'–ऐसा यदि चिन्तन करते हो, तो इस उपेक्षा भावनारूप फल में हे भाई! पुरुषार्थ क्यों नहीं करते हो? यदि निरपेक्षता-माध्यस्थ भावना प्राप्त की जा सकती है, (फिर भी) इस शुद्ध भावना के प्रति पुरुषार्थ नहीं करने वाला जड़-बुद्धि ही संसारी होता है। (तथा) उसके प्रति तत्पर तीक्ष्णबुद्धिवाला ही मुक्त हो सकता है–ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ–वह उपेक्षाभावना कैसे प्रकट हो? उसकी प्राप्ति के लिए कहाँ जाना होगा, किसी शरण लेनी होगी?'– इत्यादि जिज्ञासाओं के समाधान के लिए अकलंकदेव इस पद्य में लिखते हैं कि वह उपेक्षाभावना आत्मा में ही उपलब्ध है, उसे प्राप्त करने के लिए किसी तीर्थाटन, कृच्छ्रसाधना या किसी की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। वह आत्मा में ही प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक काल में सहज सुलभ है; किन्तु उसकी ओर अनादिकालीन मिथ्यासंस्कारों के कारण ध्यान नहीं दिया गया है - यही इस आशंका व इसकी प्राप्ति की कठिनाई का मूल कारण है।

यहाँ उपेक्षा भावना को 'आत्माधीन' एवं 'सुलभ' बताकर समस्त पराधीनता एवं किसी भी साधन की प्रतीक्षा करने की विवशता को समाप्त कर दिया है। उसे सहज-प्राप्तव्य बताकर आचार्यदेव बड़ा ही स्वाभाविक प्रश्न कर देते हैं कि "हे भाई! जब इस उपेक्षा भावना को कहीं लेने नहीं जाना है, उसके लिए किसी की प्रतीक्षा नहीं करनी है, इसको प्राप्त करने के लिए कोई कष्ट भी नहीं उठाना है; तो फिर इसकी प्राप्ति/प्रकट करने के लिए तुम प्रयत्न क्यों नहीं करते हो?"

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—स्व-परस्वरूपमनरिदु व्यामोहं बिट्टु निर्व्यग्रनागि कार्यरूपमप्प, केवलज्ञानक्के कारणमप्प स्वसंवेदनमेनिप कालत्रयदोळं निरावरणमेनिप साक्षात् मोक्षक्के कारणमप्प परमात्मस्वरूपदल्लि अविचलनागि निल्लेम्बुदं पेळल्वेडि बन्दुदुत्तरश्लोकं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—स्व-परवस्तु-*विशेषं ज्ञात्वा, तत्र मुह्यतां विसृज्य स्वरूपं ध्यायेति ब्रुवन्नाह—*

स्वं परं विद्धि तत्रापि व्यामोहं छिन्दि किन्त्विमम् ।
अनाकुलं[1] स्वसंवेद्य-स्वरूपे तिष्ठ केवले ।। 24 ।।

कन्नड़ टीका—(विद्धि) अरि (किम्) एनं?—(स्वं परं) तानुं परनुमेंबी भेदमं (किन्तु), मत्तं (छिन्दि) किडिसु (कम्) एनं? (व्यामोहं) मुह्यभावमं (कथंभूतम्) एन्तप्पडं? (इयं) एल्लाप्राणिगळं प्रत्यक्षमप्पुदं (किमपि) एनं माडोवडं? (तथापि) स्वपरंगळनरिवुत्तिर्दडं (तिष्ठ) अविचलनागि निल्लु (कथम्) एन्तु? (अनाकुलम्) निर्व्यग्रनागि (क्व) एल्लि? (स्वसंवेद्यस्वरूपे) तन्निंदं तनगे ताने तोर्प कारणसमयसारस्वरूपदोळु (कथंभूते) एन्तप्प स्वरूपदोळु? (केवले) निरावरणमप्पुदरल्लि ।

संस्कृत टीका—(स्वं) त्वं (परं) अन्यत् (विद्धि) अवेहि (किन्तु) पुनः, किमिति चेत् (तत्र) तत्स्वपरवस्तुषु संजातम् (इमं व्यामोहं) मुह्यत्वं (छिन्दि) द्वैतीभावं कुरु। (अपि) पश्चात् (अनाकुलः सन्) परमस्वास्थ्य सम्पन्नः सन्, (स्वसंवेद्ये) स्वेन ज्ञातव्ये स्वरूपे (केवले) परानपेक्षे (तिष्ठ) अविचलो भव। यावन्मुह्यभावस्तावत् स्वरूपपरिच्छित्तिश्च तत्रावस्थानञ्च न घटत इतिभावः।

उत्थानिका (कन्नड़)—अपने और पराये स्वरूप को जानकर, व्यामोह छोड़कर, अनाकुलता के कार्यरूप, केवलज्ञान के कारणरूप-ऐसे स्वसंवेदनरूपी, तीनों कालों में निरावरणरूपी साक्षात् मोक्ष के कारणरूप परमात्मस्वरूप में अविचल होकर रहो—ऐसा बताने के लिए यह श्लोक प्रस्तुत है।

उत्थानिका (संस्कृत)—अपनी और परायी वस्तु के विशेष-भेद को जानकर, उनमें मोहभाव को छोड़कर स्वरूप का ध्यान करो—ऐसा कहते हैं।

खण्डान्वय—स्वं=अपने को, परं=पर को (यथावत्), विद्धि=जानो,

---

[1] 'अनाकुलः', इति सं० प्रति पाठः।

किन्तु=परन्तु, तथापि=उनमें (स्व-पर में) भी, इमं व्यामोहम्=(ये मेरा है-ये पराया है) इस व्यामोह को, छिन्दि=नष्ट कर दो (तथा) अनाकुल: (सन्)=अनाकुल होकर, स्वसंवेद्यस्वरूपे=अपने से ही अनुभव में अपने योग्य स्वरूप में, केवले=परिपूर्ण (स्वरूप) में, तिष्ठ=स्थिर रहो।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–(तुम) समझो, किसको?–अपने और पद के इस भेद को लेकिन, नाश करो, किसको? मोह-ममता के भाव का किस प्रकार के?–समस्त प्राणियों को प्रत्यक्षरूप से कुछ करने के लिए स्व और पर वस्तुओं को जानने पर भी अविचल होकर खड़े रहो (स्थिर रहो), कहाँ पर? अपने से अपने को स्वयं ही साक्षात् प्रत्यक्षरूप से दिखाई देने वाले कारणसमयसारस्वरूप में। कैसा है वह स्वरूप? निरावरण (शुद्ध) स्वरूप है, उसमें (स्थिर रहो)।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–(अपने को) तुम और अन्य को जान लो, किन्तु फिर क्या? ऐसा कहने पर (बतलाते हैं) उन स्व-पर-वस्तुओं में उत्पन्न इस मोह-ममता के भाव को दोफाड़ (छिन्न-भिन्न) कर दो। और फिर परम स्वास्थ्य से सम्पन्न होकर अपने से जानने योग्य स्वरूप में (जो कि) पर की अपेक्षा से रहित है, ऐसे (स्वरूप) में अविचल-स्थिर हो जाओ। जब तक मोहभाव है, तब तक स्वरूप का ज्ञान और उसमें (स्वरूप में) अवस्थान (स्थिरता) नहीं बनता है, ऐसा भाव है।

विशेषार्थ–जीव 'स्व' एवं 'पर' को जान तो ले, किन्तु उसमें अपने-पराये की राग-द्वेष परक भेदबुद्धि न करे। "अयं निज: परो वेति" का व्यामोह छोड़कर निज को निजरूप जाननेमात्र से 'पर' अपने आप छूट जायेगा। 'पर' का ग्रहण तो मात्र विकल्प/अज्ञान में है; जब विकल्प ही टूट जायेगा, तो फिर पर को छोड़ने की चिन्ता व प्रयत्न दोनों की ही आवश्यकता नहीं रहेगी।

जब चिन्ता मिट जायेगी, तो आकुलता भी नष्ट होगी ही; क्योंकि चिन्ता ही तो आकुलता की जननी है। और तब आकुलतारहित होकर जीव अपने स्वसंवेद्यस्वरूप में स्थिर हो सकेगा। इसी कार्य को करने का मृदुल आदेशात्मक शब्द 'तिष्ठ' (रहो/ठहरो) का प्रयोग अकलंकदेव ने यहाँ किया है।

'अनाकुल' शब्द का प्रयोग 'सुखस्वरूप' के अर्थ में हुआ है। कविवर दौलतराम जी ने भी 'सुख' का स्वरूप आकुलतारहित बतलाया है।[1] कन्नड़ टीकाकार ने इसका अर्थ 'व्यग्रता (बेचैनी) से रहित' तथा संस्कृत टीकाकार ने 'परम स्वास्थ्य-सम्पन्न' अर्थ लिया है। जब साधक व्यक्ति समताभाव से युक्त

नहीं होगा, तो वह निश्चितरूप से अनिष्ट संयोगों को हटाने एवं इष्ट संयोगों को जुटाने के लिए बेचैन रहेगा। अत: समताभाव की प्राप्ति बिना बेचैनी (व्यग्रता) दूर नहीं हो सकती है। तथा समताभाव को ही 'स्वास्थ्य' भी कहा गया है–"**साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च..... ।**"[2] अत: दोनों अर्थों में शाब्दिक एवं शैलीगत अन्तर होते हुए दोनों का भाव एक ही है।

'**स्वसंवेद्यस्वरूप**' पद भी विशिष्ट महत्त्व रखता है। आत्मा का स्वरूप वस्तुत: न तो शास्त्र पढ़कर जाना जा सकता है और न ही उपदेश सुनकर उसे समझा जा सकता है। यहाँ तक कि विकल्पात्मक चिन्तन प्रक्रिया से भी उसे पकड़ा नहीं जा सकता है। उसका तो मात्र स्वसंवेदन ज्ञान या स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा ही ग्रहण हो सकता है।[3] आ० यतिवृषभ ने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की महिमा बताते हुए लिखा है कि "स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष द्वारा केवलज्ञान के अंशरूप ज्ञान की निर्बाधरूप से उपलब्धि होती है।"[4] सम्यग्दृष्टि जीव का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष सिद्धों के समान शुद्ध होता है।[5] आचार्य जयसेन ने कहा है कि "स्वसंवेदनज्ञान से उत्पन्न सुखरूपी अमृतजल से भरे हुए परमयोगियों के जैसे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष होता है, वैसा अन्य किसी के नहीं होता है।"[6]

यह स्वसंवेदन आत्मा के उस साक्षात् अनुभव का नाम है, जिसमें योगी स्वयं ही ज्ञेयज्ञायकभाव को प्राप्त होता है।[7] आचार्य जयसेन ने घोषणा की है कि "यह आत्मस्वरूप मेरे द्वारा चतुर्थ काल में केवलज्ञानियों की भाँति प्रत्यक्ष देखा गया है।"[8] वस्तुत: स्वसंवेदन के द्वारा निजतत्त्व की प्राप्ति किये बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है, और सम्यक्त्व के बिना निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं है।[9]

---

1. छहढाला, 3/1।
2. पद्मनंदि पंचविंशति:, 4/64।
3. द्र० "स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यताम्।" –तत्त्वानुशासन, 167
4. कसायपाहुड, 1/1/31/44।
5. "सम्यग्दृगात्मन: स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम्" – पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, 489।
6 पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 127।
7. तत्त्वानुशासन, 161।
8. समयसार, तात्पर्यवृत्ति, गा० 110।
9. रयणसार, 90।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)—कर्तृ-कर्म-करण-सम्प्रदानापादानाधिकरणमेम्बारू कारकंगळेकवस्तुविनोळोंदि समयदोळु दोरकोळ्ळवेन्दु यौग-सौगतादिगळु पूर्वपक्षमं माडि प्रसिद्धाध्यात्मभावनाविषयदल्लि षट्कारकव्यवस्थेयं तोरल्वेडि बन्दुदुत्तरश्लोकं—

उत्थानिका (संस्कृत टीका)—*अभेदषट्कारकरूपेण स्वरूपं ध्यायति सति फलप्राप्तिः स्यादिति ब्रुवन्नाह—*

स्वः स्वं स्वेन स्थिरं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरे।
स्वस्मिन् ध्यात्वा लभस्वेत्थमानन्दममृतं पदम्॥ 25॥

कन्नड़ टीका—(लभस्व) पडेवे (किम्) एनं? (पदम्) स्थानमं (कथंभूतम्) एन्तप्पस्थानमं? (अमृतम्) मोक्षरूपमप्प स्थानमं (भूयोऽपि कथंभूतम्) मत्तमेन्तप्पुदं? (आनन्दम्) आत्मोत्थवप्पनन्तसुखस्वरूपमं (किं कृत्वा) एनं माडि? (ध्यात्वा) ध्यानिसि, (कथम्) एन्तु? (इत्थम्) ई पेळ्द तेरदिंद (कः) आवं? (स्वः) नीनु (कम्) एवं? (ध्यात्वा) ध्यानिसि (स्वं) निन्नं (केन) एतरिंदं? (स्वेन) एन्निंदं (कथम्) एन्तु (स्थिरम्) स्थिरमागि (कस्मै) आवंगे? (स्वस्मै) निनगे फलप्राप्तिगोसुगं (कस्मात्) आवुदरत्तणिंदं फलप्राप्ति (स्वस्मात्) निन्नत्तणिंदं (क्व) एल्लिई ध्यानिसि? (स्वस्या विश्वरे स्वस्मिन्) निन्न केडिल्लद स्वरूपदोळिर्दु।

संस्कृत टीका—*(अविनश्वरे) शाश्वते (स्वस्मिन्) आत्मनि (स्थिरम्) स्थिरं यथा भवति, तथैव स्थित्वा (स्वरूप) स्वसंबंधि, (स्वम्) आत्मानं (स्वस्मात्) आत्मनः सकाशात् (स्वस्मै) स्व-स्वरूपप्राप्त्यै (स्वेन) आत्मना (स्वः) आत्मा-स्वमित्थम् अनेनाभेदषट्कारकरूपेण, (ध्यात्वा) ध्यानं कृत्वा (आनन्दम्) अनन्तसुखस्वरूपं (अमृतम्) मरणादिदुःखरहितं (पदम्) मुक्तिस्थानं (लभस्व) उपगच्छ। परनिरपेक्षः सन् स्वेनैव-निजसिद्धात्मस्वरूपावाप्तिसंभवात् परभावमप्राप्य, स्वरूपभावनायामेव प्रयत्नपरः सदा भवेदिति भावः।*

उत्थानिका (कन्नड़)—कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-अधिकरण—ऐसे छह कारक एक ही वस्तु में एक ही समय में नहीं पाये जाते हैं—ऐसे यौगवादियों एवं बौद्धों आदि को पूर्वपक्ष बनाकर प्रसिद्ध अध्यात्मभावना के विषय में षट्कारक व्यवस्था को दिखाने के लिए यह श्लोक प्रस्तुत है।

उत्थानिका (संस्कृत)—अभेदषट्कारकरूप से अपने स्वरूप को ध्यान करने पर फलप्राप्ति होती है—ऐसा कहते हैं।

खण्डान्वय—स्वःस्वयं ही, स्वं=अपने को, स्वेन=अपने से (स्वयं के द्वारा)

स्वस्मात्=अपने से, स्वस्याविनश्वरे स्वस्मिन्=अपने अविनाशी स्वरूप में स्थिरः=स्थिरतापूर्वक, ध्यात्वा=ध्यान करके, एनं=इस, आनंदं=आनन्दमय, अमृतं पदं=अविनाशी पद को, लभस्व=प्राप्त करो।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–प्राप्त करोगे, क्या?–स्थान को, किस प्रकार के स्थान को? मोक्षरूपी स्थान को, और फिर कैसा है वह पद? अपने आत्मा से उत्पन्न अनन्त सुखस्वरूपी है। क्या करके? ध्यान करके, कैसे? ऊपर कहे गये कथनानुसार, कौन? तुम, किसका ध्यान करके? तुम अपने आपको (ध्याकर), किससे?–अपने से, कैसे? अविचल होकर, किसके लिए?–तुम्हें फल प्राप्ति हो–इसलिए, कहाँ से फल प्राप्ति हो? तुम्हारी अपनी आत्मा से, कहाँ रहकर ध्यान करने से? तुम्हारे अविनाशी स्वरूप में रहकर (ध्यान करने से मोक्षरूपी फल प्राप्ति होगी)।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–शाश्वत आत्मा में जैसे स्थित हो सके, वैसे स्थिर होकर अपने संबंधि आत्मा को आत्मा के पास से अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मा के द्वारा आत्मा अर्थात् तुम–इस प्रकार इस अभेद षट्कारकरूप से ध्यान करके अनन्तसुखस्वरूप, मरण आदि के दुःखों से रहित मोक्षरूपी पद को प्राप्त करो जाओ। पर, निरपेक्ष होकर अपने से ही निज सिद्धसमान आत्मस्वरूप की प्राप्ति संभव होने से पर भाव को छोड़कर, स्वरूप भावना में ही प्रयत्नरत सदा होना चाहिए–ऐसा अभिप्राय है।

विशेषार्थ–'सब कुछ आत्मा में ही मिल जाने वाला है, तो किसी साधनरूप, कर्मरूप या अपादान-अधिकरण आदि रूप अन्य पदार्थ की कोई भूमिका इस कार्य की निष्पत्ति में होगी अथवा नहीं?' –इस जिज्ञासा का समाधान 'अभिन्न षट्कारक' की प्रक्रिया को बताकर इस पद्य में दिया गया है। छहों कारकों को आत्मा में घटित करने के बाद 'क्रिया' के स्थान पर सम्बन्धकृदन्तीय पद 'ध्यात्वा' (ध्यान करके) का प्रयोग कर यह संकेत दिया गया है कि 'स्वरूप-सम्बोधन-पञ्चविंशतिः' नामक इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय पूर्णतया समझ लेने के बाद आत्मध्यान करने के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं रह जाता है। और आत्मध्यान करने पर अनन्त आनन्दमय त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व की अविचल प्राप्ति होगी तथा पर्यायगतरूप से अनन्तसुखरूप पर्याय प्रकट होगी, जो कि अनन्त सुखस्वरूपतः अविनाशी होगी – अमृत होगी।

प्रमुख अध्यात्मवेत्ता आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मा में अभिन्न षट्कारक-व्यवस्था

का बहुत विशद वर्णन किया है।[1] पं० जयचन्द जी छाबड़ा ने भी 'अभिन्न षट्कारक व्यवस्था को **परमसत्य**'[2] बताया है। बताया है। लोक में भिन्न षट्कारकों का कथन किया जाता है, किन्तु अध्यात्ममार्ग में अभिन्न षट्कारकों का कथन उद्देश्यपूर्ण है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द संकेतित करते है कि अभेद कारक व्यवस्था दृष्टि में आने पर कारकों सम्बन्धी अहंकार दूर हो जाता है[4] तथा शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि होती है।[5] आचार्य ब्रह्मदेव सूरि ने तो यहाँ तक लिख दिया कि आत्मा में अभिन्न षट्कारक घटित हुये बिना परमात्मपद की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[6] यह अभिन्न षट्कारक चिन्तन निश्चय नय का विषय है।[7] अभिन्न षट्कारकों की स्थिति को समझे और अपनाये बिना ध्यान संभव नहीं है। तत्त्वानुशासन में स्पष्ट लिखा है – "आत्मा, अपने आत्मा को, अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के लिए, अपने आत्महेतु से ध्याता है; इसलिए कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण-ऐसे षट्कारक रूप परिणत आत्मा ही निश्चय से ध्यानस्वरूप है।"[8]

सामान्यत: छह कारकों का ही कथन आता है, किन्तु यहाँ अकलंकदेव ने 'स्व' पर सातों विभक्ति-प्रत्ययों का प्रयोग किया है। आचार्य पूज्यपाद ने तो 'धर्म' पर आठों विभक्ति-प्रत्ययों का प्रयोग किया है–

> **"धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते।**
> **धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं, धर्माय तस्मै नमः।।**
> **धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद् भवभृतां, धर्मस्य मूलं दया।**
> **धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं, हे धर्म! मां पालय।।"[9]**

---

[1] विशेष द्र०, समयसार की 'आत्मख्याति' टीका, गाथा 297; प्रवचनसार की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका, गाथा 16 तथा पंचास्तिकाय की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका, गाथा 46।

[2] प्रवचनसार गाथा 16 की वचनिका।

[3] पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध, 331।

[4] प्रवचनसार, गाथा 160।

[5] प्रवचनसार, गाथा 126।

[6] परमात्मप्रकाश टीका, 2/16।

[7] तत्त्वानुशासन, 29।

[8] तत्त्वानुशासन, 74।

[9] नित्यपाठसंग्रह, पृष्ठ 280।

उत्थानिका (कन्नड़ टीका)–स्वरूपसम्बोधन पंचविंशतिग्रन्थपरिसमप्त्यंतरमी ग्रन्थं तन्नं पेळ्वंगं, पेळ्वंगमावडि सम्पदंमाळ्कुमेंबे ग्रन्थसामर्थ्यमे प्रकटिसल्वेडि बन्दुदुत्तरश्लोकं–

उत्थानिका (संस्कृत टीका)–*इमं ग्रन्थाभिप्रायं ज्ञात्वा सम्यग्गुणनिकाक्रियते चेत्, अस्माद् ग्रंथात्संभवफलं प्रदर्शयन्नाह*–

इतिस्वतत्त्वं परिभाव्य वाङ्मयं, य एतदाख्याति श्रुणोति चादरात् ।
करोति तस्मै परमात्मसंपदं, स्वरूपसम्बोधनपंचविंशति: ।। 26 ।।

कन्नड़ टीका–(करोति) माळ्पुदु (का) आवुदु? (स्वरूपसंबोधनपंचविंशति:) स्वरूपसम्बोधनपंचविंशयेंब ग्रन्थं (काम्) एनं? (परमात्मसंपदं) परमात्मसंपत्तियं (कस्यै) आवंगे? (तस्यै) आतंगे (य:किं करोति) आवनानुमोर्वनिनं माळ्पं? (य:) आवनानुमोर्व (आख्याति) पेळ्वनुं (श्रुणोति) केळ्वनुं (आदरात्) अतियिंद (किम्) एनं (एतद् वाङ्मयम्) ई वचनमयमप्प शास्त्रमं (किं कृत्वा) एनं माडि? (परिभाव्य) परिभाविसि (किम्) एनं? (स्वतत्त्वम्) आत्मतत्त्वमं (कथम्) एन्तु? (इति) ई मार्गदिंदं ।

संस्कृत टीका–*(इति) उक्तप्रकारेण (स्वतत्त्वं) निजस्वरूपं (परिभाव्य) सम्यग्ज्ञात्वा, (य: आदरात्) यच्छ्रद्धया (एतत् वाङ्मयम्) शब्दं व्याप्य (आख्याति) व्याकरोति श्रुणोति च, तस्मै जीवाय (स्वरूपसम्बोधनपंचविंशति:) स्वरूपसम्बोधन इति पंचविंशतिग्रंथप्रमाणं ग्रंथ:, (परमात्मसंपदं) परमात्मसंपत्तिं करोति । एवमुपयोगाद्यनेकधर्मसंभृतस्वसंवेद्यमात्मानं निर्ग्रंथाभिप्रायेण निश्चित्य निस्संग: सन् भाविते सति परमात्मसंपत्ति: संभवतीति तात्पर्य: ।*

उत्थानिका (कन्नड़)–'स्वरूपसम्बोधन-पंचविंशति' नाम के ग्रन्थ की परिसमाप्ति के अवसर पर यह ग्रन्थ अपने को पढ़नेवालों सुननेवालों को क्या सम्पत्ति देने वाला है?–इस प्रकार ग्रंथ की सामर्थ्य को प्रकट करने के लिए यह श्लोक प्रस्तुत है।

उत्थानिका (संस्कृत)–इस ग्रन्थ के अभिप्राय को जानकर सम्यक् गुणों के समूह को प्राप्त करते हैं यदि, (तो) इस ग्रंथ से हो सकने वाले फल को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं।

खण्डान्वय–इति=इस पूर्वोक्त रीति से, स्वतत्त्वं=निजात्मतत्त्व को, परिभाव्य=भली भाँति भावना करके, य:=जो, एतद्वाचां=इन वचनों को,

आख्याति=कहता है, च=और, आदरात्=आदरपूर्वक, श्रुणोति=सुनता है, तस्मै=उसके लिए (यह ग्रन्थ), परमात्मसंपदं=परमात्मारूपी सिद्धि-सम्पत्ति को, करोति=प्राप्त करता है–(ऐसा यह) स्वरूपसम्बोधनपंचविंशति:=स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशति नामक ग्रंथ है।

हिन्दी अनुवाद (कन्नड़ टीका)–करता है, कौन करता है? 'स्वरूप-सम्बोधनपंचविंशति' नामक यह ग्रन्थ, क्या करता है?–परमात्मपदरूपी सम्पत्ति को किसके लिए?–उसके लिए, वह अकेला क्या करेगा?–जो कोई प्रतिपादन करता है, और सुनता है आदर के साथ, किसको?–इस (जिन) वचनमय शास्त्र को, किस प्रकार से?–चिन्तन-मनन करके, किसका?–आत्मतत्त्व का, कैसे?–इस (के स्वाध्याय पूर्वक) प्रकार से।

हिन्दी अनुवाद (संस्कृत टीका)–पूर्वोक्त प्रकार से निजस्वरूप को भली-भाँति जानकर जो श्रद्धापूर्वक शब्दमयी (इस शास्त्र का) व्याख्यान करता है और सुनता है, उस जीव के लिए 'स्वरूप सम्बोधन' नाम पच्चीस ग्रन्थ प्रमाण यह ग्रन्थ परमात्मपद की प्राप्ति कराता है। इस प्रकार उपयोगादि अनेक धर्मों से भरे हुए (परिपूर्ण) स्वसंवेद्य आत्मा की निर्ग्रन्थत्व के अभिप्राय से निर्णीत कर निस्संग होकर भावना करने पर परमात्मरूपी संपत्ति अथवा परमात्मपद की प्राप्ति अवश्य होती है–ऐसा तात्पर्य है।

विशेषार्थ:–ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय का वर्णन पूर्ण करने के बाद आचार्यदेव ने इस पद्य में ग्रन्थ का फल प्रतिपादित किया है।

इस ग्रन्थ को उन्होंने 'वाङ्मय' संज्ञा देकर द्वादशांगवाणी का अंग/भाग बताया है, व्यक्तिगतरूप से कही गयी कोई 'कथा' या 'अभिमत' नहीं माना है। अत: जो भी इसे पढ़े-सुने, वह द्वादशांगी जिनवाणी की गौरव-गरिमा के अनुरूप आदर एवं विनयपूर्वक ही पढ़े या सुने; प्रमाद, तिरस्कार, टीका-टिप्पणी या छिद्रान्वेषण के अभिप्राय से नहीं।

इस विधि से इसका पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण करने पर 'यह ग्रंथ उन पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने वालों को निज त्रिकाली ध्रुव परमात्मपद की प्राप्ति का हेतु बन सकेगा' - ऐसा अभिप्राय अन्तिम प्रशस्ति के रूप में अकलंकदेव ने यहाँ व्यक्त किया है।

कन्नड़ टीकाकार की प्रशस्ति—

श्रीमदकलंक कर्तं मोदलागे षट्तर्कषण्मुखरुं समन्तादध्यात्मसहित्यवेदिगळुं मूलकर्तृगळुं नामधेयमेप्प श्रीमन्महासेनपंडितदेवरिंद सूरस्तगणाग्रगण्यरप्प सैद्धान्त-चक्रवर्ती श्रीमत् पिरिय वासुपूज्यसैद्धान्तदेवर गुड्डनप्प पद्मरसं स्वरूपसम्बोधन-पंचविंशतिय नवरससमीपदोळ् केळुत्तं कर्नाटकवृत्तियं स्व-पर-हितमागि माडिसिदं।

मंगलमहा।। श्री-श्री-श्री-श्री-श्री।।

।। वीतरागाय नमः।।

हिन्दी अनुवाद—श्रीमद् अकलंकदेव इस ग्रन्थ के कर्ता हैं। वे षट्तर्कों के लिए षण्मुख (कार्तिकेय) के समान हैं। वे सब ओर से चारों दिशाओं से अध्यात्म-साहित्य के बड़े ही प्रगल्भज्ञाता हैं एवं इस ग्रन्थ के मूलकर्त्ता है। श्रीमान् महासेन पण्डितदेव ने समस्त गणों में अग्रणी सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीमत् ज्येष्ठ वासुपूज्य सैद्धान्तिकदेव के प्रिय शिष्य पद्मरस ने इस स्वरूप-सम्बोधन-पंचविंशति (नामक ग्रंथ) को नवरस से भरे हुए मन से सुनते हुए कन्नड़-भाषामयी वृत्ति (टीका) अपने और दूसरों के हित की भावना से करायी।

महान् मंगल हो। श्री-श्री-श्री-श्री-श्री।

वीतराग परमात्मा के लिए नमस्कार है।

विशेषार्थ:— यहाँ पर 'स्व-पर हितमागि' पद महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अध्यात्मग्रंथों के टीकाकार ग्रंथ के व्याख्यान का मूल उद्देश्य आत्महित मानते हैं। मुनि रामसिंह ने 'व्याख्यान' का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "यदि व्याख्यानकर्त्ता ने आत्मा में चित्त नहीं लगाया, तो मानो उसने अन्नकणों को छोड़कर भूसे का संग्रह किया।"[1] वे आगे स्पष्ट करते हैं कि 'जो ग्रंथ के शब्द और अर्थ में ही सन्तुष्ट हो जाता है, परमार्थ को नहीं पहिचान पाता है; वह मूर्ख है।'[2] अतः स्वहितपूर्वक शिष्यों एवं भव्यों का परम्परा से हित होना-ऐसा 'स्व-पर हित' इस टीका का उद्देश्य टीकाकार ने स्पष्ट किया है।

---

1. दोहापाहुड, पद्य 84।
2. वही, पद्य 85।

संस्कृत टीकाकार की प्रशस्ति—

भट्टाकलंकचन्द्रस्य सूक्तिनिर्मलरश्मय: ।
विकासयन्तु भव्यानां हृत्कैरवसंकुलम् ।।
भट्टाकलंकदेवै: स्वरूपसंबोधनं व्यरचितस्य ।
टीका केशववर्य्यै कृता स्वरूपोपलब्धिमावाप्तुम् ।।

।। श्री वीतरागाय नम: ।।

हिन्दी अनुवाद—भट्ट अकलंकदेवरूपी चन्द्रमा की सूक्ति (सद्‌वचन) रूपी निर्मल रश्मियाँ (किरणें) भव्यजीवों के हृदयकमलिनियों के समूह को विकसित करें (खिलायें-मुकुलित करें)।

भट्ट अकलंकदेव के द्वारा रची गयी 'स्वरूप-सम्बोधन' नामक इस कृति की टीका केशववर्य्य (केशवण्ण?) के द्वारा निजस्वरूप की उपलब्धि करने के लिए की गयी है।

।। श्री वीतराग परमात्मा के लिए नमस्कार है।।

विशेषार्थ:—यह पद्यात्मक ग्रंथ इस अन्तिम पद्य के छोड़कर 'अनुष्टुप्' छन्द में निबद्ध है। धवला आदि ग्रन्थों में 'अनुष्टुप्' छन्द को 'प्रमाणपद' कहा गया है। यहाँ संस्कृत टीकाकार में **'पञ्चविंशतिग्रंथप्रमाणग्रन्थ:'** कहकर **'ग्रंथप्रमाण'** पद से धवला के प्रमाणपद को संकेतित किया है। वैसे भी जिनवाणी में अनुष्टुप् छन्द की मात्राओं के परिमाण के अनुसार गणना करके 'यह ग्रन्थ इतने श्लोकप्रमाण है' – ऐसा ग्रन्थ का परिमाण बताये जाने की परम्परा है। ध्यातव्य है 'अनुष्टुप्' छन्द को ही 'श्लोक' नाम से जाना जाता है।

इसमें टीका का उद्‌देश्य 'आत्मस्वरूप की उपलब्धि' बताया है। समयसार के व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र ने भी समयसार ग्रन्थ की व्याख्या का फल अपने परिणामों की परमविशुद्धि होना बताया है—

"मम परमविशुद्धि: शुद्धचिन्मात्रमूर्ते—
र्भवतु समयसार-व्याख्ययैवानुभूते: ।।"[1]

---

[1] समयसार—आत्मख्याति टीका, मंगलाचरण; पद्य 3।

प्रथम परिशिष्ट

पद्यानुक्रमणिका

क्रमांक	पद्य	पद्य क्रमांक
1-	इति स्वतत्त्वं.....	26
2-	इतीदं सर्वमालोच्य.....	16
3-	इत्याद्यनेकधर्मत्वं	9
4-	कर्त्ता यः कर्मणां भोक्ता....	10
5-	कषायैः रञ्जितं चेतः.....	17
6-	ज्ञातादृष्टाऽहमेकोऽहं.....	14
7-	ज्ञानाद्भिन्नो.....	3
8-	ततस्त्वं दोष.....	18
9-	तदाप्यति तृष्णावान्.....	20
10-	दर्शनज्ञानपर्याय.....	13
11-	नानाज्ञानस्वभावत्वाद्.....	6
12-	प्रमेयत्वादिभि.....	4
13.	मुक्तामुक्तैक.....	1
14-	मोक्षेऽपि यस्य.....	21
15-	यथावद् वस्तु.....	12
16-	यदेतन्मूलहेतो.....	15
17-	स वक्तव्यः स्वरूपाद्यैः.....	7
18-	सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि.....	11
19-	स स्याद्विधिनिषेधात्मा.....	8
20-	साऽपि च स्वात्म.....	23
21-	सोऽस्त्यात्मा.....	2
22-	स्वदेहप्रमितश्चायं.....	5
23-	स्वं परं चेति.....	22
24-	स्वं परं विद्धि.....	24
25-	स्वः स्वं स्वेन.....	25
26-	हेयोपादेयतत्त्वस्य.....	19

परिशिष्ट–2

शब्दानुक्रमणिका

(मूल ग्रन्थ में आगत विशिष्ट शब्दों की सूची अकारादि क्रम से)

क्रं०	शब्द	पद्य क्रमांक
1.	अक्षय	1
2.	अगोचर	7
3.	अग्राह्य	2
4.	अचिदात्मा	4
5.	अतितृष्णावान्	20
6.	अनाकुल	24
7.	अनाद्यन्त	2
8.	अनेकधर्मत्व	9
9.	अन्तर	10
10.	अन्यतः	19
11.	अपर	14
12.	अभिन्न	3
13.	अमुक्त	1
14.	अमूर्ति	8
15.	अमृत	25
16.	अविनश्वर	25
17.	अहम्	14
18.	आकांक्षा	21
19.	आत्मनि	20
20.	आत्मनः	11, 16
21.	आत्मा	2, 3, 9
22.	आत्माधीन	23
23.	आदरात्	26
24.	आनन्द	25
25.	आलम्बन	3
26.	आलोच्य	16
27.	उत्कर्षपर्यन्त	22
28.	उत्पत्ति	2
29.	उत्तरोत्तरभाविषु	13
30	उदासीनत्व	18
31.	उपाय	10, 11
32.	उपेक्षाभावना	22
33.	उपेये	19
34.	एकः	14
35.	एकरूप	1
36.	एकानेक	6
37.	एकानेकात्मक	6
38.	एकान्ततः	7
39.	कर्त्ता	10
40.	कथञ्चित्	12
41.	कर्म	10
42.	कषाय	17
43.	कारण	9, 15
44.	कांक्षा	21
45.	केवल	24
46.	कौंकुम	17
47.	ग्राह्य	2
48.	चारित्र	14
49.	चित्त	17
50.	चेतनाचेतनात्मकं	4
51.	चेतनैकस्वरूप	6
52.	ज्ञाता	14
53.	ज्ञान	3, 13

54. ज्ञानदर्शनतः 4
55. ज्ञानमात्र 5
56. ज्ञानमूर्ति 1
57. तत्फलानां 10
58 तत्त्व 11, 16, 17
59. तत्त्वचिन्तापरः 18
60. तपः 15
61. तृष्णा 20
62. दर्शन 11, 13
63. दुःख 14
64. दुराधेयः 17
65. दृष्टा 14
66. देशकालादि 15
67. दोषनिर्मुक्ति 18
68. दौस्थ्य 16
69. धर्म 4
70. नानाज्ञानस्वभाव 6
71. निर्म्मोह 18
72. निर्वाच्य 7
73. निरालम्ब 19
74. नीलीरक्ताम्बर 17
75. पदम् 25
76. परम् 22, 24
77. परधर्म 8
78. परभाव 7
79. परमात्मा 1
80. परमात्मसम्पद 26
81. पर्याय 13
82. पूर्वापरीभूत 3
83. पृथक् 12
84. प्रदीपवत् 12
85. प्रमिति 12
86. प्रमेयत्वादि 4
87. फल 9, 23
88. बहिः 10
89. बहिरंगक 15
90. बन्ध 9
91. बाह्य 15
92. भिन्न 3
93. भावनादार्ढ्य 14
94. भोक्ता 10
95. माध्यस्थः 13
96. मुक्त 1
97. मुक्तत्व 10
98. मूलहेतु 15
99. मोक्ष 9, 20, 21
100. मोक्षेऽपि 21
101. यत्न 23
102. याथात्म्य 11
103. यथावद् 12
104. रञ्जित 17
105. राग 17
106. राग-द्वेष-विवर्जित 16
107. वक्तव्य 7
108. वस्तु 22
109. वस्तुनिर्नीति 12
110. वस्तुरूपेण 22
111. वाङ्मय 26
112. वाचाम् 7
113. वाच्य 7
114. विधि-निषेधात्मा 8
115. विपर्यय 8

116. विश्व व्यापी 5
117. व्यय 2
118. व्यामोह 24
119. शक्तित: 16, 26
120. शिवम् 22
121. संविदादि 1
122. सद्दृष्टिज्ञानचारित्र 11
123. समूर्ति 8
124. सम्यग्ज्ञान 12
125. सम्मत 5
126. सर्व 16
127. सर्वगत 5
128. सर्वत: 18
129. सावलम्बन: 19
130. सुख 14
131. सुख-दु:ख 13
132. सुलभा 23
133. सर्वथा 5
134. सहकारक 15
135. सोपयोग 2
136. सौस्थ्य 16
137. सौस्थित्य 11
138. स्थिति 2, 19
139. स्थिर 13, 25
140. स्याद् 8
141. स्व: 25
142. स्वं 22, 24, 25
143. स्वतत्त्व 26
144. स्वदेहप्रमित 5
145. स्वधर्म 8
146. स्वयमेव 9
147. स्वरूपादि 7
148. स्वरूपसंबोधनपञ्चविंशति:
149. स्वस्मात् 25
150. स्वस्मिन् 17, 25
151. स्वस्मै 25
152. स्वस्य 25
153. स्वसंवेद्यस्वरूपे 24
154. स्वात्मनिष्ठ 23
155. स्वात्मलब्धि 11
156. स्वार्थव्यवसायात्मा 12
157. स्वेन 25
158. हन्त 20
159. हितान्वेषी 21
160. हेतुफलावह: 2
161. हेयत: 19
162. हेयोपादेयतत्त्व 19

परिशिष्ट 3

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अनगार धर्मामृत/पं.आशाधर सूरि/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं., 1977
2. अमितगतिश्रावकाचार/आ.अमितगति/सोलापुर/प्र.सं., 1922
3. अमृताशीति/आ.योगीन्द्रदेव/दि जैन मु.मं., उदयपुर/प्र.सं., 1990
4. अष्टपाहुड/आ.कुन्दकुन्द/भा.व.अ.वि.प., सोनागिर/प्र.स., 1989-90
5. अष्टसहस्री/आ.विद्यानन्दस्वामी/गांधी नाथारंगजी ग्रंथमाला/प्र.सं., 1915
6. आलापपद्धति/आ.देवसेन/प्रा.दि.जैन ग्रंथमाला, बम्बई/प्र.सं., 1920
7. आत्मानुशासन/आ.गुणभद्र/जैन सं.संर.संघ, सोलापुर/प्र.सं., 1961
8. आप्तपरीक्षा/आ.विद्यानन्दस्वामी/वीर सेवा मंदिर/प्र.सं., 1951
9. आप्तमीमांसा/आ.समन्तभद्र/वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट/प्र.सं., 1967
10. इष्टोपदेश/आ.पूज्यपाद/वीर सेवा मन्दिर/प्र.सं., 1964
11. कठोपनिषद/गीता प्रेस, गोरखपुर
12. कसायपाहुड/आ.यतिवृषभ/वीर शासन संघ, कलकत्ता/प्र.स. 1955
13. कार्तिकेयानुप्रेक्षा/स्वामीकार्तिकेय/प्र.श्रु.प.मं., अगास/प्र सं. 1961
14. गोम्मटसार जीवकाण्ड/आ.नेमिचन्द्र सि.च./भारतीय ज्ञानीपीठ/प्र.सं. 1978
15. चार्वाकदर्शन समीक्षा/पाठक सर्वानन्द/चौखंभा संस्कृत सीरीज/प्र.सं., 1965
16. छक्खंडागमसुत्त/आ.पुष्पदन्त-भूतबलि/
17. छहढाला/पं.दौलतराम/कुन्दकुन्द भारती, न.दि./द्वि.सं 1994
18. जैनदर्शन में आत्मविचार/डॉ.लालचन्द जैन/पा.वि.शो सं. वाराणसी/
19. जैनदर्शन/डॉ.महेन्द्र कुमार न्याया./ग.व.जैन ग्रं., वाराणसी/प्र.सं. 1984
20. जैन न्याय./पं. कैलाशचन्द्र/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं. 1966
21. जैन साहित्य .का इतिहास/शास्त्री कैलाशचन्द्र/गणेशवर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी/प्र.सं., 1976/
22. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश/जैनेन्द्र वर्णी/भारतीय ज्ञानपीठ/द्वि.सं., 1986
23. ज्ञानार्णव/आ.शुभचन्द्र/प.श्रु.प्र.मं., अगास/प्र.सं., 1908
24. तिलोयपण्णत्ति/आ. यतिवृषभ/जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर/प्र.सं., 1942
25. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा/शास्त्री नेमिचन्द्र/अ.भा

अ.दि.जै. विद्वत्परिषद्/प्र.सं., 1974
26. तत्त्वसार/आ.देवसेन/सुमन बोवड़ा, यू.एस.ए./प्र.सं.
27. तत्त्वार्थराजवार्तिक/भट्ट अकलंकदेव/भारतीय ज्ञानपीठ/द्वि.सं., 1982/
28. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक/आ.विद्यानन्दस्वामी/निर्णयसागरप्रेस/प्र.सं., 1919
29. तत्त्वार्थसार/आ.अमृतचन्द्र सूरि/भा.जै.सि.प्र.सं., कलकत्ता/प्र.सं., 1920
30. तत्त्वार्थसूत्र/आ. उमास्वामी/श्री गणेशवर्णी दि.जैन संस्थान, वाराणसी/द्वि. सं. 1991
31. तत्त्वानुशासन/आ. नागसेन सूरि/वीर सेवा मंदिर/प्रं.सं., 1963
32. तर्कभाषा/केशवमिश्र/सं.सी., वाराणसी/प्रं.सं.
33. दोहापाहुड/मुनिरामसिंह/गो.अं.च., कारंजा/प्र.सं. 1933
34. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र/आ.माइल्लधवल/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं., 1971
35. धवला/आ.वीरसेन स्वामी/अमरावती/प्र.सं., 1939-59
36. धर्मशर्माभ्युदय/हरिचन्द्र/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं., 1954
37. नाटक समयसार/कविवर पं. बनारसीदास/बी.स.सा.प्र.ट्र., भावनगर/तृ. सं., 1976
38. नियमसार/आ. कुन्दकुन्द/दि. जैन स्वा. मं. ट्र., सोनगढ़/च.सं., 1978
39. न्यायकुमुदचन्द्र/आ.प्रभाचन्द्र/मा.दि.जैन ग्रं., बम्बई/प्र.सं. 1939
40. न्यायदीपिका/अभिनव धर्मभूषण यति/वीर सेवा मंदिर/प्र.सं., 1945
41. पंचसंग्रह/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं., 1960
42. पंचाध्यायी/पांडे राजमल्ल/वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी/द्वि.सं. 1986
43. पंचास्तिकायसंग्रह/आ. कुन्दकुन्द/प.श्रु.प्र.मं., अगास/तृ.सं., 1968
44. पंचास्तिकायसंग्रह (तात्पर्यवृत्ति)/आ.अमृतचन्द्र/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं., 1975
45. पद्मनंदिपंचविंशति:/आ.पद्मनन्दि/जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर/द्वि.सं., 1977
46. परमात्मप्रकाश/आ.योगीन्द्रदेव/प.श्रु.प्र.मं.,अगास/पं.सं., 1988
47. परीक्षामुखसूत्र/आ.माणिक्यनन्दि/मोहनलाल शास्त्री, जबलपुर/प्र.सं.
48. पुरूषार्थसिद्धयुपाय/आ.अमृतचन्द्रसूरि/भा.व.अ.वि.प., सोनागिर/प्र.सं. 1989-90
49. प्रमेयकमलमार्तण्ड/आ.प्रभाचन्द्र/निर्णयसागर प्रेस/द्वि.सं., 1941
50. प्रमेयरत्नमाला/लघु अनन्तवीर्य/चौखम्बा विद्या. वाराणसी/प्र.सं. 1939

51. प्रवचनसार/आ.कुन्दकुन्द/प.श्रु.प्र.मं.,अगास/प्र.सं., 1950
52. बारस अणुवेक्खा/आ.कुन्दकुन्द/
53. भगवती आराधना/आ.शिवकोटि/जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर/प्र.सं., 1935
    भगवतीसूत्र/
54. मूलाचार/आ.वट्टकेर/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं. 1986
55. मोक्षमार्गप्रकाशक/पं.टोडरमल/पं.टोडरमल स्मा.ट्रस्ट, जयपुर/ग्या.सं., 1993
56. योगसार/आ.योगीन्द्रदेव/प.श्रु.प्र.मं.,अगास/पं.सं., 1988
57. योगसारप्राभृत/आ.अमितगति/भा.जै.सि.प्र.सं., कलकत्ता/प्र.सं., 1919
58. रत्नकरण्डश्रावकाचार/आ.समन्तभद्र/वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट/प्र.सं., 1972
59. रयणसार/आ.कुन्दकुन्द/वि.नि.ग्र.प्र.स. इन्दौर/प्र.सं. 1974
60. विश्वतत्त्वप्रकाश/आ.भावसेन/जैन सं.संर.संघ, सोलापुर/प्र.सं., 1964
61. बृहज्जिनवाणीसंग्रह/अ.भा.जैन.यु.फै., जयपुर/द्वि.सं., 1987
62. बृहद्द्रव्यसंग्रह/आ.नेमिचन्द्र सि.च./जयनारायण जैन, दिल्ली/प्र.सं., 1953
63. षड्दर्शनसमुच्चय/आ.हरिभद्रसूरि/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं., 1970
64. संस्कृत हिन्दी कोश/वामनशिवराम आप्टे/मोती.बना., दिल्ली/द्विसं. 1969
65. सत्यशासनपरीक्षा/आ.विद्यानन्दस्वामी/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं., 1964
66. सन्मतितर्क/आ.सिद्धसेन/गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद/प्र.सं., 1923
67. समयसार/आ.कुन्दकुन्द/प.श्रु.प्र.मं.,अगास/द्वि.सं., 1974
68. समयसारकलश/आ.अमृतचन्द्रसूरि/बी.सं.सा.प्र.ट्र., भावनगर/तृ.सं. 1978
69. सर्वार्थसिद्धि/आ.पूज्यपाद/भारतीय ज्ञानपीठ/प्र.सं., 1955
70. समाधितन्त्र/आ.पूज्यपाद/वीर सेवा मंदिर/प्र.सं., 1964
71. सारसमुच्चय/आ.कुलभद्र/भा.व.अ.वि.पं.सोनागिर/प्र.सं. 1990
72. स्याद्वादमंजरी/आ.मल्लिषेण/प.श्रु.प्र.मं.,अगास/प्र.सं., 1970

परिशिष्ट क्र. 4

टिप्पणी

(यह टीका मुझे पूरा ग्रन्थ मुद्रित हो चुकने के बाद मुनिश्री कनकोज्ज्वलनंदि जी के द्वारा प्राप्त हुई है; अतः इसे परिशिष्टरूप में दिया जा रहा है। इसका संक्षिप्त परिचय एवं समीक्षा निम्नानुसार है–)

परिचय–यह टीकाग्रन्थ सन् 1967 में 'शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, शान्तिवीर नगर, श्री महावीरजी (राज०)' से प्रथमावृत्ति में प्रकाशित हुआ था। यह एक संकलनग्रन्थ था, जिसमें समाधितन्त्र, इष्टोपदेश एवं स्वरूप-सम्बोधनपञ्चविंशति–ये तीन ग्रन्थ टीकासहित प्रकाशित थे। इसमें यह ग्रन्थ 'स्वरूप सम्बोधन' नाम से ही प्रकाशित है। इसमें पं० खूबचन्द शास्त्री कृत संस्कृत टीका तथा पं० अजित कुमारशास्त्री कृत हिन्दी टीका भी थी; किन्तु ये दोनों टीकायें आधुनिक विद्वानों द्वारा रचित होने से इनका उपयोग मैंने नहीं किया है। इन दोनों टीकाओं के अतिरिक्त एक प्राचीन अज्ञातकर्तृक संस्कृत टीका भी दी गयी थी। यद्यपि इसमें टीकाकार एवं रचनासंवत् आदि के बारे में कोई उल्लेख नहीं है, तथापि यह टीका प्राचीन प्रतीत होती है; इस बात का पोषक प्रमुख प्रमाण है–आधुनिक टीकाओं में अनुपलब्ध 21वाँ पद्य (तथाप्तीवतृष्णावान् ....) इसमें विद्यमान है तथा अज्ञात टीकाकार ने उसकी टीका भी की है।

टीका के प्राक्कथन में ग्रन्थकर्ता का नाम 'अकलंकदेव' एवं ग्रन्थ का नाम 'स्वरूप-सम्बोधन' दिया गया है। तथा ग्रन्थरचना का उद्देश्य 'समस्त भव्य जीवों को अनेकान्तरीति से जीव-पदार्थ का प्रतिपादन करना' बताया गया है। टीका के अन्त में 'पदार्थकथनात्मिका वृत्तिः' कहकर इस टीका का स्वरूप 'प्रत्येक पद का अर्थ कथन करनेवाली 'वृत्ति-टीका' सूचित किया है। इसमें मूलग्रन्थ को पच्चीस श्लोकप्रमाण तथा अन्तिम 26वें पद्य (इति स्वतत्त्वं......) को उपसंहाररूप माना गया है।

समीक्षा–यह टीका अज्ञातकर्तृक भी है, सरल एवं संक्षिप्त भी है तथा इसका रचनाकाल आदि भी अज्ञात है; तथापि यह अनेकदृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्राचीनता और संभवतः किसी विशिष्ट श्रमण के द्वारा रचित होना–ये तो इसकी महत्ता का आधार हैं ही, साथ ही इसमें जो विशेषार्थ-उत्थानिकायें दी गयीं हैं; वे भी कम महत्त्व की नहीं हैं। टीकाकार ने अध्यात्मप्रधान दृष्टि से इस टीका की रचना की है, फिर भी इस ग्रन्थ को निश्चय-व्यवहार-दोनों नयदृष्टियों से

समन्वित माना है और अनेकत्र सिद्ध भी किया है। टीका की भाषा शैली सरल एवं सुबोधगम्य है।

इस टीका प्रति के सम्पादक पं० अजित कुमार शास्त्री ने बस इसे प्रकाशित भर कराया है, सम्पादन के नाम पर इसकी दुर्दशा ही की है। उदाहरणस्वरूप प्रकाशित टीका में मूलग्रन्थकार के पद्यों के पद एवं उनकी टीका को एक साथ प्रकाशित कर दिया है, दोनों में कुछ पता ही नहीं चलता कि कौन शब्द ग्रन्थकार का है, कौन टीकाकार का? तथा टीकाकार ने जिस "तथाप्यति तृष्णावान्....." पद्य की मूलग्रन्थ के पद्य के रूप में टीका की है, सम्पादक ने उस पर 'पाठान्तर' का ठप्पा लगा दिया है। और मूलग्रन्थ को पच्चीस श्लोकोंवाला बता दिया है, जब कि इस टीका में स्पष्टरूप से छब्बीस पद्य हैं, जो कि प्राचीन प्रतियों के अनुसार हैं। टीका के प्रकाशन में प्रमाद और असावधानी भी बहुत हुई है, कई शब्द और पंक्तियाँ तक छूट गयी हैं; जिन्हें कोष्ठक के द्वारा यहाँ सूचित करने का प्रयास किया है। फिर भी पूरी तरह से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ; क्योंकि इस टीका की कोई अन्य प्रति मुझे नहीं मिली। सम्पादक ने अर्द्धविराम, अल्पविराम आदि सम्पादकीय विशेषताओं का प्रयोग तो किया ही नहीं है, विराम-चिह्न भी प्रायः गलत जगह पर दिये हैं; जिनको मैंने यथासंभव सुधारकर प्रकाशित किया है। एक और आश्चर्य की बात रही, वह यह कि विद्वान् सम्पादक ने दो-दो संस्कृत टीकायें प्रकाशित कीं; किन्तु उनमें से किसी का भी हिन्दी अनुवाद देना उचित नहीं समझा। उन्होंने अपनी स्वतन्त्र हिन्दी टीका प्रस्तुत की है। प्रतीत होता है कि कोई भी टीकाकार उन्हें इस स्तर का नहीं लगा कि उसकी टीका का हिन्दी रूपान्तरण किया जाय। इसके अतिरिक्त जो प्रूफसंशोधन-सम्बन्धी प्रचुर भूलें रहीं, उनका उल्लेख मैं अपेक्षित नहीं समझता; क्योंकि सम्पादक ने दुर्ग शहर में दशलक्षण पर्व के दस दिनों में ही इसे निबटाया था, जबकि प्रस्तुत प्रकाश्य 'स्वरूपसम्बोधनपञ्चविंशति' में प्रत्येक टीका की खोज, पाठान्वेषण, सम्पादन एवं सन्दर्भ-संग्रह आदि कार्यों में अनवरत कार्यरत रहते हुए भी डेढ़ वर्ष का समय लग गया। अतः मात्र दस दिनों में जो तीन ग्रन्थों को टीकासहित प्रकाशित करें–उनके कार्य में क्या अपेक्षा की जा सकती है? परन्तु ऐसी प्रवृत्ति शास्त्र के प्रति आपराधिक उपेक्षाभाव है।

अस्तु, यदि यही टीका कुछ समय पहिले मिली होती, तो इसको मूल में स्थान देता, न कि परिशिष्ट में; तथा इसका अनुवाद भी प्रस्तुत करता। किन्तु पूरा ग्रन्थ मुद्रित हो चुकने के बाद प्राप्त होने से मैं इसे परिशिष्ट में ही दे सका हूँ। इस

टीका के मूलपाठ के बारे में भी कोई उत्साहजनक सूचना सम्पादक पं० अजित कुमार शास्त्री ने नहीं दी थी, उन्होंने मात्र इतना लिखा कि ''यह टीका पूज्य आचार्य शिवसागर जी के संघस्थ मुनिश्री अजित सागर ने भेजी है।''–अब यह प्रति कहाँ होगी?–कहना कठिन है। किस ग्रन्थभंडार की यह प्रति थी यह भी सम्पादक ने नहीं बताया है। चूंकि मूलप्रति नहीं मिल सकी तथा प्रकाशित प्रति में प्रूफ आदि सम्बन्धी उपेक्षाभाव बहुत था; अतः पाठभेदों की तुलनात्मक प्रस्तुति भी मैं नहीं कर पाया। मूलपाठ देखे बिना इतनी असावधानी से प्रकाशित प्रति के पाठों को 'पाठभेद' की श्रेणी में रखना मुझे न्यायसंगत नहीं लगा। किं बहुना.

जैसी बन पड़ी, अज्ञातकर्तृक संस्कृत टीका यहाँ प्रस्तुत है–

अज्ञातकर्तृक संस्कृत टीका

टीकाकार का मंगलाचरण–

शुद्ध चैतन्यपिण्डाय सिद्धाय सुखसम्पदे।
विमलागमसाराय नमोऽस्तु परमेष्ठिने।।

प्राक्कथन–श्रीमदकलंकदेव समस्तदुर्णयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशितातिशयोऽशेषभव्यजनानां अनेकान्तरूपेण जीवपदार्थ प्रतिपादनार्थं स्वरूपसम्बोधनग्रन्थस्यादाविष्टदेवनमस्कारं मंगलार्थं कुर्वन्नाह–

पद्य 1 (मुक्तामुक्तैक......) की टीका–

यः कश्चित् परमपदार्थः **कर्मभिः** ज्ञानावरणादिकर्मभिः **संविदादिना** सम्यग्ज्ञानादिगुणैः **मुक्तामुक्तैकरूपः** त्यक्तात्यक्तैकस्वभावः **तम्** आत्मोत्थसुखस्वभावम् **अक्षयम्** अव्ययं **ज्ञानमूर्तिं** केवलज्ञानस्वरूपं **परमात्मानं** परमात्मपदार्थं **नमामि** नमस्करोमि। समस्त रागादिविभावरहित केवलज्ञानादिगुणसमूहसहितपरमात्मपदार्थ एव नमस्कारार्ह इति भावार्थः।। 1।।

पद्य 2 (सोऽस्त्यात्मा.......) की उत्थानिका–परमात्मस्वरूपसंसिद्धिमभिलषन् ग्रन्थकारः सहजसुखसमुद्रं परमात्मानं प्रणिपत्य पुनः परमतत्त्वं निरूपयति–

टीका–यो यः कश्चित् **सोपयोगः** ज्ञानदर्शनोपयोगयुक्तः **क्रमात्** क्रमेण **हेतुफलावहः** कार्यकारणस्वरूपावहः **ग्राह्यग्राही** ग्रही स्वपरवस्तुस्वरूपं गृह्णाति जानतीति ग्रही, यद्वा अग्राह्य ग्राह्य पाठे च–**अग्राह्यग्राहकरूपः** इति; अथवा **ग्राह्योऽग्राह्य** इति पाठोऽपि सहजज्ञान परिच्छेद्यो ग्राह्यः, क्षयोपशमज्ञानेन अवेद्यत्वाद् अग्राह्यः इत्यर्थः। अयम् **अनाद्यन्तः** अनादिनिधनः **स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः** ध्रौव्योत्पत्तिविनाशरूपः **अयम्** एषः सुखनिधिर्यः स्वरूपयोगादिधर्मधनः **आत्मा** निर्विकारचैतन्यस्वभावः **अस्ति**

विद्यते। उपयोगादिलक्षणलक्षितात्मास्ति, तेन परवादिकल्पितात्मस्वरूपं न भवतीति तात्पर्यम्।। 2।।

उत्थानिका–पुनरप्यात्मद्रव्यस्य नयविवक्षाभेदेन चेतनत्वमावेदयति--

पद्य 3 (प्रमेयत्वादि....) की टीका–

प्रमेयत्वादिभिः प्रमेयत्वं-सम्बोधकत्वं–द्रव्यत्वं–प्रदेशत्वादिकैः **धर्मैः** वस्तुस्वभावैः **अचिदात्मा** अचेतनस्वभावः, **ज्ञानदर्शनतः** ज्ञानदर्शनाभ्यां **चिदात्मकः** चैतन्यस्वरूपः, **तस्मात्** तेन कारणेन **चेतनाचेतनात्मकः** चेतनाचेतनस्वभावः। साधारणधर्मोऽचेतनत्वं, असाधारणधर्मश्चेतनत्वं भवतीति भावार्थ।। 3।।

उत्थानिका–तत्त्वज्ञानं निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मनो भिन्नभिन्नं चेत्युक्ते प्रत्युत्तरं ददादि–

पद्य 4 (ज्ञानाद्भिन्नो.....) की टीका–

यत् यस्मात् कारणात् **पूर्वापरीभूतं** प्रथमोत्तरसंजातं **ज्ञानं** स्वपरग्राहकप्रमाणं **सोऽयं** स एषः **आत्मेति** सहजप्रकाश इति कीर्तितः कथितः, **तत्** तस्मात्कारणात् आत्मा **ज्ञानात्** ज्ञानतः **भिन्नः** पृथक् भवति, अतो **चाभिन्नः** ज्ञानात् पृथक् न भवतीति अभिन्नः–इति **कथंचन** अनेकान्तरूपेण भिन्नाभिन्नस्वरूपः। अनेन नित्यैकान्त-क्षणिकैकान्तपरिहारेण ज्ञान-ज्ञानिनोर्न सर्वथा भेद-इति भावार्थः।

उत्थानिका–स चात्मा किं प्रमाणमिति पृष्टे प्रमाणमावेदयति–

पद्य 5 (स्वदेहप्रमित.....) की टीका–

अयम् एष आत्मा च यस्मात् कारणात् **स्वदेहप्रमितः** स्वकीयस्वीकृतशरीरप्रमाणः, **ततः** तस्मात् कारणात् **ज्ञानमात्रोऽपि** ज्ञानप्रमाणापि **सर्वगतः** सर्वव्यापी **सम्मतः** अभिमतः, **सोऽपि** स च **सर्वथा** सर्वप्रकारेण **विश्वव्यापी** समस्तलोकव्यापकः न तत्सम्मतः। सहजानन्दचैतन्यप्रकाशत्मतत्त्वं सर्वथा शरीरप्रमाणं न भवतीति तात्पर्यम्।। 5।।

पद्य 6 की उत्थानिका–पुनरप्येकत्वानेकत्वात्मतत्त्वं निरूपयति–

टीका–स आत्मा **नानाज्ञानस्वभावत्वाद्** अनेकज्ञानस्वरूपत्वात् **नैकः** एको न भवति, **चेतनैकस्वरूपत्वात्** चैतन्यैकस्वभावतः **अनेकोऽपि** न भवति अनेकात्मको न भवति; **एकानेकात्मकः** एकानेकस्वरूपः **भवेत्** स्यात्। द्रव्यपर्यायापेक्षया एकत्वानेकत्वं भवतीति तात्पर्यम्।। 6।।

पद्य 7 (नावक्तव्यः...) की उत्थानिका –पुनरपि एतत् सहजपरमात्मतत्त्वं वाच्यावाच्यं भवतीति निरूपयति।

टीका– स एवात्मा एकानेकरूप आत्मा **स्वरूपाद्यैः** स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभावरूपस्वरूपादिचतुष्टयेन **वक्तव्यः** आत्मादिशब्दैर्वाच्यः, **परभावतः** परद्रव्य-परक्षेत्र-

परकाल-परभावरूपादि- चतुष्टयेन **निर्वाच्य:** आत्मादिशब्दैरवाच्य:; **तस्मात्** तत: कारणात् **एकान्तत:** सर्वप्रकारेण **वाच्य:** वचनविषयो न भवति, **वाचां** वचनानाम् **अगोचर:** अविषय: **नापि न स्यात्**। स्वरूपादिचतुष्टयेन वाच्य:, पररूपादिचतुष्टयेनावाच्यो भवतीति भावार्थ ।। 7 ।।

पद्य 8 (स स्याद्...) की उत्थानिका - पुनरपि अस्तिनास्ति- रूपेणात्मतत्त्वमावेदयति-

टीका— स: तत्-सहजविलासविजृम्भितात्मपदार्थ: **स्वधर्मपरधर्मयो:** आत्मगतज्ञानाधिर्म-परगतरूपादिधर्मयोर्विवक्षितयो: सतो: **विधिनिषेधात्मा** अस्ति-नास्तिस्वरूप:**स्याद्** भवेत्; **बोधमूर्तित्वात्** ज्ञानस्वरूपत्वात् **समूर्ति:** मूर्तियुक्त:, **विपर्ययात्** रूपादिरहितत्वात् **अमूर्ति:** अमूर्तो भवति। सर्वथा अस्ति-नास्तिस्वरूप वस्तु नास्तीति तात्पर्यम् ।। 8 ।।

पद्य 9 (इत्याद्यनेक...) की उत्थानिका - निश्चयेन सहजसुखरसास्वादकोऽपि व्यवहारेण कर्मफल-भोक्ता भवतीति सूचयति-

टीका- हे आत्मन् ! सहजसुखनिलय ! परमपदार्थ ! त्वं त्वं च **इत्याद्यनेक धर्मत्वं** कथितोपयोगादिधर्मस्वरूपो **भवसि** असि, **तु** पुन: **स्वयमेव** त्वमेव **बंधमोक्षौ** प्रकृत्याद्यात्मकबंधस्तद्विलक्षणमोक्ष: तयो: तत् बन्धमोक्षयो: **फलं** कार्यरूपं **तत्कारणै:** तेषां कारणै: **स्वीकुरुषे** स्वयमेवाभ्युपगच्छसि। बन्ध-मोक्षफलानुभव-सामर्थ्याद्-बन्ध-बन्धफले परित्यज्य, मोक्ष-मोक्षफले स्वीकुर्यादिति तात्पर्यम्। तथा चोक्तम्-

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते।।

पद्य 10 (कर्ता य:.......) की उत्थानिका - अन्तरंग-बहिरंगसामग्री सद्भावाद् एव मोक्षो भवतीति कथयति-

टीका – यो य: कश्चिज्जीव: **कर्मणाम्** – वृजिनानाम् **कर्ता** व्यवहारेण य: करोति स कर्ता, **तु** पुन: **स एव** कर्म-कर्त्तैव **तत्फलानां** तच्छुभाशुभरूपकर्मफलानां **भोक्ता** आस्वादक:, **बहिरन्तरूपायाभ्यां** अन्तरंगबहिरंगहेतुभ्यां **स्वमेव स:** स त्वं तेषां कृतकर्मणां **भोक्ता** विनाशक:। पातनिकार्थो भावार्थ ।। 10 ।।

पद्य 11 (सद्दृष्टि ....) की उत्थानिका - मुक्तिहेतुमाह-

टीका – **सद्दृष्टिज्ञानचारित्रं** सम्यदर्शनावबोधचारित्रं **स्वात्मलब्धये** आत्मस्वरूपप्राप्तये **उपाय:** मुख्यकारणं भवति। तत्र दर्शनं किं रूपमित्युक्ते प्राह-**तत्त्वे** शुद्धात्मतत्त्वे **याथात्म्य-सौस्थित्यं** अविचलितरुचि: **आत्मनो** जीवस्य **दर्शनं** सम्यदर्शनं **मतं** सम्मतम्। निजशुद्धात्मतत्त्वे रुचि: सम्यग्दर्शनमिति तात्पर्यम्।। 11 ।।

पद्य 12 (यथावद्वस्तु ....) की उत्थानिका - सम्यग्ज्ञानस्वरूपमाह-